श्रमण-संस्कृति
की
रूपरेखा

लेखक —

प्रोफेसर पुरुषोत्तम चन्द्र जैन शास्त्री,

एम ए, एम ओ एल

पटियाला



प्रकाशक —

प्रोफेसर पी सी जैन

पटियाला

विक्रम सं० २००७
ईस्वी सं० १९५१

मूल्य ५) रु०

जैन प्रिंटिंग प्रेस, [illegible]

पुस्तक मिलने का पता –

मैनेजर

जैन प्रिंटिंग प्रेस,

अम्बाला सिटी

ला० दीपचन्द मोहन लाल जैन जौहरी

अदालत बाजार

पटियाला (पेप्सु)

प्रो पा सी जैन एम ए

स्टेडियम

पटियाला (पेप्सु)

मुद्रक —

ला० रोशन लाल जी जैन

ला० बाबू राम जी जैन

जैन प्रिंटिंग प्रेस,

अम्बाला शहर।



श्रमण-सस्कृति के
पुजारियो के
कर कमलों
में

पुरुषोत्तम चन्द्र जैन

नम्र निवेदन

भारतीय इतिहास में, जैन धर्म, जैन संस्कृति और जैन दर्शन का कितना ऊँचा स्थान है यह किसी से छिपा नहीं है। जिस भौतिकवाद की भयानकता से तंग आकर आज विश्व के सभी राष्ट्र आध्यात्मिकवाद के सर्वोत्तम सन्देश 'विश्व शांति की स्थापना' के महत्त्व को समझने लगे हैं उस विश्व शान्ति के सन्देश का जैन धर्म अनादिकाल से देता आया है। जैन धर्म के सिद्धान्तों की उत्कृष्टता निर्विवाद सिद्ध है। इस महान् धर्म के अहिंसावाद, कर्मवाद और अनेकान्तवाद के सिद्धान्त सदा विश्व में इस की कीर्ति को प्रसारित करते रहेंगे। किन्तु समय का चक्र बड़ा विचित्र है। वह जैनधर्म जो कभी विश्वधर्म होने का दावा करता था, कुछ सदियों से अवनति की ओर जा रहा है और उस का प्रचार कम हो रहा है। इस का मूल कारण यही है कि जैन धर्म के अनुयायी अपने आदर्शधर्म के वास्तविक सिद्धान्त को न समझ कर पथभ्रष्ट होते जा रहे हैं। जैनदर्शन के सिद्धान्तों का महत्त्व उत्तरोत्तर केवल शास्त्रीय विभूति के रूप में ही रहता जाता है। जैन समाज के जीवन में

का व्यापक रूप में पालन लुप्त होता जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि समाज में सर्वत्र फूट, ईर्ष्या, कलह और मिथ्या प्रचार का साम्राज्य है। अनेकांत-वाद के सिद्धांत को तिलाञ्जली दी जा रही है। प्रेम और शांति के संदेश को ठुकराया जा रहा है। सम्प्रदाय-वाद के झूठे वितण्डावाद में धन का महान् अपव्यय किया जा रहा है और शिक्षा जो राष्ट्र और समाज के निर्माण के लिये परमावश्यक है, उस की ओर उचित ध्यान नहीं दिया जाता। इस के अतिरिक्त अवनति का एक कारण और भी है। जैन साहित्य को देखने से यह स्पष्ट पता चलता है कि जैनधर्म किसी समय में विद्वानों का धर्म था किन्तु अहिंसा प्रधान धर्म होने के कारण इस के अनुयायियों ने न्यूनतम हिंसा वाले व्यापार व्यवसाय को अपनाया। व्यापार से लक्ष्मी का आगमन स्वाभाविक है और लक्ष्मी के चक्र में पड़ा हुआ मानव अपने धर्म और संस्कृति को भूल जाए या उस की उपेक्षा करदे यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। अस्तु, वर्त्तमान समय में जैनधर्म व्यापक रूप में व्यापारियों का धर्म ही रह गया है। जो भी कुछ जैन धर्म का प्रचार यत्र तत्र दृष्टि गोचर होता है उस का श्रेय जैनमुनि राजों को

जाता है। लोग जैन सन्तों पर नुक्ता चीनी अवश्य करते हैं किन्तु मैं यह दावे के साथ कह सकता हू कि यदि जैन मुनिरत्नों ने जैन धर्म के प्रचार का भार अपने ऊपर न लिया होता तो जो भी जैन धर्म का प्रचार और जैनागमों का पठन पाठन आज दृष्टिगोचर होता है उस का भो अभाव होता। व्यापारी लोग जैन धर्म के वर्तमान प्रचार को भी कायम रखने में समर्थ न हो पाते।

अस्तु, जैनधर्म के प्रचार, सामान्य ज्ञान और सुधार को ही दृष्टि में रखकर 'श्रमण–संस्कृति की रूपरेखा' नामक ग्रन्थ की रचना की गई है। श्रमण शब्द जैन और बौद्ध दोनों के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु यहा जैन से ही अभिप्राय है। संस्कृति शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण विषयों पर इस ग्रन्थ में प्रकाश नहीं डाला गया है। जो कला आदि विषय अवशेष रह गए है उन पर दूसरे ग्रन्थ में प्रकाश डाला जाएगा।

पञ्जाब विभाजन के समय मुझे अपना पुस्तकालय लाहौर में ही छोड़ कर आना पड़ा। इस ग्रन्थ के कुछ अध्याय तो मैंने लाहौर में ही लिख डाले थे, शेष यहा आकर तैयार किये। यहा लिखते समय अभीष्ट सभी

ग्रन्था की प्राप्ति के अभाव में बहुत स्थलों में मुझे अपनी स्मृति से ही काम लेना पडा। अत बहुत संभव है कि कई स्थानों में उद्धरणों की तथा अन्य अशुद्धियां रह गई होंगी। आशा है विज्ञ पाठक मुझे उन के लिये क्षमा करेंगे और यदि उन के विषय में सूचित करने का कष्ट करेंगे तो मैं उन का बहुत ही कृतज्ञ हूंगा।

अन्त में मैं जैनधर्म के सुयोग्य विद्वान् श्री डाक्टर-बनारसीदास जी जैन एम ए, पी एच डी का बहुत २ धन्यवाद करता हूं जिन्हों ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखने का कष्ट किया है।

पाठक इस ग्रन्थ को पढ़ कर लाभ उठायेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

स्टेडियम, पटियाला — नम्रनिवेदक —

३०–१–५१ — पुरुषोत्तम



卐 भूमिका 卐

प्रोफेसर पुरुषोत्तम चन्द्र जैन द्वारा रचित "श्रमण-संस्कृति की रूपरेखा" नामक ग्रन्थ को पढ़कर मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ। लेखक ने इस ग्रन्थ की नींव लाहौर में ही रखी थी और इस के कई अध्यायों के बारे में मुझ से चर्चा भी की थी। मेरी बड़ी इच्छा थी कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो जाए तो पाठकों को बड़ा लाभ होगा। अब इस ग्रन्थ को मुद्रित होते देख कर इस का परिचय कराने में मुझे बड़ा आनन्द होता है।

प्रो० पुरुषोत्तम चन्द्र जी जैन शास्त्री, एम ए, एम ओ एल कुछ समय तक 'जैन विद्या भवन' लाहौर में मेरे साथ भी काम करते रहे। वहा इन को तुलनात्मक अनुसन्धान में बड़ी रुचि हो गई। फिर ये ऐचिसनकालेज लाहौर में प्रोफेसर हो गए और डाक्टर आफ फिलासफी की डिगरी प्राप्त करने के लिये शीलाङ्काचार्य कृत 'महापुरिस चरियं' पर थीसिस लिखना प्रारम्भ कर दिया। इस निमित्त इन को जैनाचार्य श्रीमद्विजयवल्लभसूरीश्वर जी म०' मरुधर प्रान्तीय मन्त्री मुनिश्री छगन लाल जी म० तथा

मुनि श्री पुण्य विजय जी म० जैसे विद्वान् सन्तों को सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। परन्तु पंजाब विभाजन के कारण थीसिस का काम समाप्त नहीं हो सका।

उपर्युक्त कथन से भलीभांति विदित होता है कि श्री पुरुषोत्तम चन्द्र जी ने तुलनात्मक अनुसन्धान में पूर्ण योग्यता प्राप्त करने के बाद ही प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। यही कारण है कि प्राय प्रत्येक विषय का विश्लेषण जैन, वैदिक और बौद्ध तीनों के दृष्टिकोण से किया है। वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों भारत के महान् धर्मों की संस्कृतियां साथ २ चली आई है और तीनों में पारस्परिक प्रभाव पड़ता रहा है। बहुत सी बातों में जैन संस्कृति वैदिक और बौद्ध संस्कृति से प्रभावित हुई और बहुत सी बातें जैन संस्कृतिने वैदिक और बौद्ध संस्कृतिको सिखाई। अत जैन संस्कृति का पूर्णरूप से समझने के लिये वैदिक और बौद्ध संस्कृति का समझना परमावश्यक है।

प्रस्तुत पुस्तक में जैनधर्म विषयक कई एक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार किया गया है जो इस के अध्याय शीर्षकों से ही प्रकट होता है। पुस्तक की रचना शैली प्रौढ़ होने के साथ २ सरल और सुगम भी है। कर्ता ने अपने कथन की पुष्टि के लिये यत्र तत्र अनेक शास्त्रीय प्रमाण दिये हैं।

इस के पढ़ने से जहा जैन संस्कृति का विद्वान् आनन्द ले सकता है वहा सामान्य पाठक भी लाभ उठा सकता है।

देखने में आता है कि अजैन जनता में जैन धर्म के बारे में अनेक भ्रमभूलक धारणाएँ पाई जाती हैं, इस पुस्तक में बड़े रोचक ढङ्ग से उनका निराकरण किया गया है। पहला अध्याय पढ़ने से पता चलता है कि जैनधर्म की प्राचीनता के विषय में लोगों के कैसे विचित्र और असत्य विचार हैं। श्री पुरुषोत्तम चन्द्र जी ने एक-एक को ले कर उन का खण्डन किया है। इसी प्रकार जैनधर्म और राजनीति, के प्रकरण में वैदिक राजनीति की अपेक्षा जैन राजनीति की विशेषताएँ बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से वर्णन की गई हैं। जैनी लोग अपने राजनैतिक स्वतन्त्र विधानों से प्राय अपरिचित हैं। उन विधानों का दिग्दर्शन इस प्रकरण में कराया गया है। 'अनेकान्तवाद' और 'श्रमण–संस्कृति में ईश्वर का स्थान' इन अध्यायों में ग्रन्थ कर्ता की दार्शनिक विद्वत्ता का पता चलता है। दार्शनिक विश्लेषण के साथ २ कर्ता ने सामाजिक सुधार की दृष्टि नहीं खोई। यही बात अन्य अध्यायों की है।

लेखक ने जैन संघ की वर्तमान दशा पर भी बड़ी स्पष्ट आलोचना की है। कहां इस का वह ज्वाज्वल्यमान भूत और कहां आजकल की परिस्थिति। इस पर केवल आलोचना ही नहीं की गई बल्कि इसे सुधारने के उपाय भी बतलाए गए हैं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक जैन और जैनेतर दोनों के लिये बड़ी ही उपयोगी सिद्ध होगी। जैन लोग तो इस को पढ़कर अपने धर्म की भूत और वर्तमान दशा को जान सकते हैं। जैनेतर लोग इस के पढ़ने से जैन धर्म विषयक असत्य धारणाओं को छोड़ कर उस का वास्तविक स्वरूप समझ सकेंगे।

पंजाबी विभाग,
पटियाला,
३०-१-५१

बनारसीदास जैन एम. ए., पी. एच. डी.
(निवृत्त प्रोफेसर पंजाब युनिवर्सिटी)

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ

शुद्धि-पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	१	यातुयाम	चातुयाम
३	१७	'निषाणमामद' इत्यादि पाठ कल्पसूत्र की टीका का है। कल्पसूत्र का पाठ इस प्रकार है —"उप्पि समेय सिहरसि' पृ० २०८ श्रा० ७	
६	१६	इत्स्त्रीण	इत्थीण
७	१०	प्राचन	प्राचीन
१६	१६	सारङ्गे	सारङ्गे
२३	४	शास्त्रय	शास्त्राय
२७	२	ग्रन्था	ग्रन्थों
२८	१४	घुद्ध	बुद्ध
२६	२	राजाश्र	राजाश्रा
३०	३	स्मण	स्मरण
,,	८	ऋणग्नान	ऋणदाम
,,	६	विम्तारा	विस्तारा
,		बृदहनीति	बृहदर्हन्नीति
३२	१७	तापतै	तापितै
४२	६	दुष्य	दुष्य
,,	१८	बना	बिना
४६	१६	व यत्स्था	वर्ण्यवस्था
,	,	सिद्धण	सिद्ध
५२	१४	वए च	एव च
६२	१०	तवा विसमा	तवो विसेसा
७२	१२	नाराणाम्	नराणाम्
८२	२३	ज मान्तर	ज मान्तर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८४	६	बनन	जनना
६४	२१	आमा	आगामी
१००	८	वह	यह
११७	१३	मना	मारना
११८	५	सामा	मीमा
१२५	१२	उद्याग	या उद्योग
,,	१८	नब	चीब
१३३	१६	भातीय	भारतीय
१४१	८	पचार	प्रचार
१५०	१६	बन	जैन
१५७	२०	सहार	सहार
१६१	८	भूम	भूमि
१६२	३	मभवात	सभवति
१६४	६	जर्वा	जावों
१६६	३	कम भा	काम भी
१७३	२०	ला	ला
१७४	४	द्वेपदि	द्रपादि
,,	१३	बवन	जीवन
,,	१४	भवान्	भगवान्
१८६	३	रौव	रौरव
१६२	४	और	ओर
१६५	६	मनु य	मनुष्य
१६६	२१	सस्कृति	सस्कृति
२०१	१८	मागमर्ती य	मागवर्तिन्य
२०२	१६	द्विजम्मा	द्विज मा

॥ श्रीयता भगवान् ऋषभश्री ॥

॥ जैन धर्म की प्राचीनता ॥

जैन धर्म की उत्पत्ति के लिए [illegible]
जा सकता क्योंकि यह धर्म अनादि [illegible] है [illegible]
बहुत समय तक तो कुछ भारतीय [illegible]
बौद्ध धर्म की ही एक शाखा मानते रहे [illegible]
गवेषणाएं हो चुकी हैं उनके आधार पर [illegible] है कि जैन
धर्म बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन [illegible] है। [illegible]
तो कुछ विद्वान् यही मानते रहे कि [illegible]
नाम है। इस के पश्चात् वे कुछ [illegible]
कि महावीर स्वामी वास्तव में [illegible]
उन्होंने ही जैन धर्म की नींव [illegible] के पूर्व जैन धर्म का
अस्तित्व न था। विद्वानों ने कहा कि जैन धर्म के चलाने वाले महावीर
स्वामी अवश्य ऐतिहासिक व्यक्ति [illegible] के साथ जो अन्य
तीर्थंकरों का नाम लिया जाता है [illegible] काल्पनिक व्यक्ति थे।
समय की प्रगति के साथ २ [illegible] और भी
बड़ी २ गवेषणाएं हुई और [illegible] जो पहिले
काल्पनिक समझी जाती थीं [illegible] प्रकट हुई।
अनेक गवेषणाओं ने जैन धर्म [illegible] पर बड़ा प्रकाश

जिस प्रकार वैदिक मन्त्र य के अनुसार परमात्मा इस सृष्टि को सहार के बाद ' यथा पूर्वमकल्पयत् ' पूर्व की तरह पुन निर्माण करता है और पूर्व की तरह फिर भगवान् अनेक अवतारों के रूप में अवतरित होता है। इसी प्रकार जैन धर्म में भी समय समय पर पूर्ववत् तीर्थंकर अवतार लेते रहते हैं और जैन धर्म के ज्ञान की सत्ता का प्रकट करते रहते हैं। यह चक्र इसी प्रकार निरंतर चलता रहता है। जैनधर्म के आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभ स्वामी थे और अंतिम दो श्री पार्श्वनाथ जी और भगवान् महावीर जी। जैनधर्म की वैदिक धर्म से तुलना के साथ साथ इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि वैदिक धर्म ससार को आदि और अन्तवाला मानता है किन्तु जैन धर्म ससार को अनादि और अनन्त मानता है। अतएव जैन धर्म में वैदिक सिद्धान्त की तरह सृष्टि की उत्पत्ति और सहार नहीं होते किन्तु सृष्टि का प्रवाह उसी प्रकार अनन्त काल से चला आ रहा है और चलता रहेगा।

हां! जैसे कि पहिले लिखा जा चुका है कि पहले तो जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा माना जाता था फिर महावीर स्वामी को जैनधर्म का उत्पादक माना जाने लगा किन्तु अनतक की खोज के परिणाम स्वरूप जैनों के २३ वें तीर्थकर श्री पार्श्वनाथ जी को भी ऐतिहासिक व्यक्ति माना जा चुका है। उदाहरण के लिये महावीर स्वामी जी के पिता सिद्धार्थ कश्यप गोत्र के थे और ज्ञातृ क्षत्रिय थे। नायकुल चंदे' ऐसा कल्प सूत्र में भी पाठ आता है। महावीर स्वामी को उनके जीवन काल में भी लोग ' ज्ञातृ पुत्र" के नाम से जानते थे। पाली में 'नात' ज्ञात को ही कहते हैं। इस प्रकार 'ज्ञातृ पुत्र" का अर्थ होता है "नात पुत्र"। 'नाय पुत्र" और 'नायपुत्त" की समानता प्रत्यक्ष है। बौद्धों के "सामाञ्ञफल सुत्त" में नात पुत्र के धर्म का वर्णन करते हुए इस प्रकार लिखा है –

'यातुयाम मज्झ सबुत्तो'

इस में यातुयाम शब्द बड़ा ही सार गर्भित है। पाश्चात्य विद्वान् जैकोबी ने लिखा है कि यह यातुयाम शब्द महावीर और २३वें तीर्थकर पार्श्वनाथ इन दोनों के सिद्धान्त प्रचार की भिन्नता दिखाता है। पार्श्वनाथ के समय चार ही महाव्रत थे। जैसे अहिंसा, सत्य अस्तेय, और परिग्रह त्याग। ब्रह्मचर्य नामक महाव्रत को तो महावीर स्वामी ने ही सम्मिलित किया अतएव पार्श्वनाथ का धर्म यातुयाम' और महावीर का पंचयाम' है। इस प्रकार 'पंचयाम' का प्रचार करने वाले भगवान् महावीर से भिन्न 'चातुयाम' के प्रचारक जैनधर्म के २३ वें तीर्थकर श्री पार्श्वनाथ जी के ऐतिहासिक व्यक्तित्व में कोई संदेह नहीं रह जाता।

इस के अतिरिक्त बंगाल का सम्मेत शिखर जो पार्श्वनाथ पहाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है जैनों के प्रधान तीर्थों में से एक है। भद्रबाहु रचित 'कल्प सूत्र' जिस का रचनाकाल ईसा पूर्व ३०० वर्ष करीब है उस में श्री श्री पार्श्वनाथ जी के विषय में वर्णन आता है उस का एक उद्धरण इस प्रकार है —

" निर्वाणमासन्न संमेताद्रौ ययौ प्रभु ।
(कल्पसूत्र—पृष्ठ १६८)

अर्थात् निर्वाण के समय श्री पार्श्वनाथ प्रभु इसी समेत शिखर पर आए और यहीं से मोक्षपद को प्राप्त हुए।

इसी प्रकार हेमचन्द्राचार्य विरचित "त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में भी -

ज्ञात्वा निर्वाणमासन्नं समेताद्रौ ययौ प्रभु ।
त्रयस्त्रिंशन्मुनि युतो मासमनशनं व्यधात् ॥
(त्रि श पु च पृष्ठ २१६)

अर्थात् निर्वाण के समय श्री पार्श्वनाथ प्रभु समेत शिखर पर आए। ३३ मुनि भी उन के साथ थे और उन्होंने वहाँ महीने का अनशन भी किया।

इस प्रकार के वर्णन प्रभु पार्श्वनाथ के विषय में शास्त्रों में यत्र तत्र उस ऐतिहासिक सत्य की पुष्टि करते हैं, जिस के आधार पर अनेक परंपरा से चले आते समेत शिखर को पार्श्वनाथ पहाड़ी के नाम से पुकारा जाता है। इस तरह जैन धर्म के २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी स्वामी ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध हो जाते हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से पाठक यह न समझें कि श्री पार्श्वनाथ प्रभु ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध हो चुके हैं। इस कारण जैनधर्म का प्रारम्भ उन से ही समझना चाहिये। ऐसा समझना सत्य से दूर जाना होगा। भगवान महावीर और श्री पार्श्वनाथ प्रभु इन दो अवतारों के अतिरिक्त अन्य २२ तीर्थंकरों के विषय में हम भले ही आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से महत्व रखने वाले प्रमाण देने में असमर्थ हों किन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि वे वास्तव में काल्पनिक ही हैं। उन के जीवन के विषय में कुछ एक प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिन्हें महत्व दिया जाना चाहिये। मथुरा में ककाली टीले की खुदाई से बहुत से जैनधर्म के प्रतीक अवशेष निकले हैं। इनका समय ईसा पूर्व २०० वर्ष है। यहां से जो शिलालेख मिले हैं उन में भक्तों ने अपनी श्रद्धाञ्जलि श्री ऋषभनाथ जी स्वामी को इस प्रकार दी है —

प्रीयता भगवान ऋषभ श्री ।

याद रहे कि ऋषभ स्वामी जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर हैं। इस के अतिरिक्त प्राय सभी शिलालेखों में "नमोअरिहंताणं" आता है। जिसका अर्थ स्पष्ट है कि एक या दो नहीं किन्तु बहुत से तीर्थंकरों को श्रद्धाञ्जलि दी गई है। यदि भगवान् महावीर स्वामी या पार्श्वनाथ प्रभु से जैनधर्म का प्रारम्भ हुआ होता तो उन दोनों में या एक के नाम लिखकर ही श्रद्धाञ्जलियां दी जातीं। ऐसा न कर के आदि तीर्थंकर ऋषभ स्वामी का नाम शिलालेखों में आता है। जिन को श्रद्धाञ्जलि दी गई है और उनके अतिरिक्त बाकी के सब तीर्थंकरों को श्रद्धाञ्जलियां दी गई हैं। इस से यह स्पष्ट है कि श्री ऋषभ स्वामी से ले कर अन्य सब तीर्थंकर समय समय पर अवतार ले चुके हैं और उन सब के लिये ही कंकाली टीले के शिलालेखों में श्रद्धाञ्जलियां अर्पित की गई हैं।

निस्सन्देह हमारे पास ऐसे अकाट्य और वजनदार प्रमाण नहीं हैं जिन के आधार पर बाकी सब तीर्थंकरों को ही ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध कर दिया जाए किन्तु जैसे २ उत्तरोत्तर खोज होती जायेगी और इतिहास पर प्रकाश पड़ता जायगा वैसे २ आज की काल्पनिक बातें सत्यरूप में मानी जाने लगेंगी। पहिले तो लोग जैन धर्म को बौद्ध धर्म से पृथक् अस्तित्व ही नहीं मानते थे किन्तु अब मानते हैं। पहिले तो लोग भगवान महावीर स्वामी और पार्श्वनाथ प्रभु को भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते थे, किन्तु अब सभी विद्वान् मानते हैं। भविष्य में जैसे ही प्रमाण मिलते जाएंगे वैसे ही अन्य तीर्थंकरों को भी ऐतिहासिक व्यक्ति मान लिया जायगा।

वैदिक धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद को कुछ विद्वान् ईसा पूर्व १२०० वर्ष मानते थे और कुछ २५०० वर्ष मानते थे किन्तु मोहन जोदड़ो नगर की खुदाई के बाद जो खोज हुई है उस के आधार पर—

अब विद्वान् लोग ऋग्वेद को ३००० वर्ष का पुराना मानने लगे हैं। इस प्रकार प्रमाण मिलने पर पुनः विचार हो रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भविष्य की खोज अवश्य ही तीर्थंकरों के व्यक्तित्व पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालेगी।

यहां प्रसंगवश यह दर्शाना असंगत न होगा कि इतने प्राचीन ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में भी तीर्थङ्करों के नाम आते हैं। जैसे—
ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्। हन्तारं शत्रूणां कृधि विराजं गोपतिं गवाम्॥ — *[illegible]* उक्षाणो यशामेषा अर्धमुष्ट्राम आहुता।
ऋग्वेद १०/६१/१४

स नेमि राजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्धयमानोऽस्मै स्वाहा।
यजु० ६ २५

ऋग्वेद और यजुर्वेद के इन दो मन्त्रों में जैनियों के आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभ स्वामी और २२वें तीर्थङ्कर श्री नेमिनाथ का नाम आया है। इस से भी जैन धर्म की प्राचीनता पर बड़ा प्रकाश पड़ता है।

इस के अतिरिक्त जैन धर्म का प्राचीनतम नाम "निग्गंठ पवयण" अर्थात् निर्ग्रन्थ प्रवचन था। जैन शब्द का प्रयोग तो संवत् १००० के लगभग प्रयोग में आने लगा। इस के पूर्व जैन शब्द का प्रयोग बहुत ही कम होता था। और इसके स्थान पर "निर्ग्रन्थ प्रवचन" का प्रयोग होता था। जैनागम भी इसी सत्य की पुष्टि करते हैं।

जैसे —
"पयण दाहामु तुमं नियट्ठा"।
उत्तराध्ययन अ० १२ श्लो० १६
"नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गंथे"
उत्त० १६/२

इसी प्रकार आचारांग और कल्प सूत्रादि आगमों में भी निर्ग्रंथ शब्द जैन साधु साध्वियों के लिये ही प्रयोग में आता है।

बौद्धों के धर्म ग्रंथ "महापरि निर्वाण सुत्त" में निग्गंठ शब्द का प्रयोग किया गया है। अशोक के शिलालेखों में भी 'निग्गंठ' शब्द आता है, जिस का अभिप्राय जैन साधुओं से ही है। बौद्धों के पिटकों में तो स्पष्ट बताया गया है 'निग्गंठ' बौद्धों के प्रतिद्वंद्वी थे। इस से यह स्पष्ट है कि निग्गंठ बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन काल से चले आते थे और वे समय २ पर बौद्ध धर्म का बड़ा विरोध करते रहे। इस प्रकार 'निग्गंठ' शब्द के प्रयोग से भी जैन धर्म भारत का बहुत प्राचीन धर्म सिद्ध होता है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जो अवशेष निकले हैं वे भी जैनधर्म की प्राचीनता पर बड़ा प्रकाश डालते हैं। हड़प्पा से एक सील निकली है जिस का चित्र लाहौर के डाक्टर बनारसीदास जैन द्वारा सम्पादित 'जैन विद्या' नामक त्रैमासिक पत्र के मुखपृष्ठ पर दिया गया है। हड़प्पा के इस अवशेष पर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हुए एक योगी की मूर्ति है। ध्यान रहे कि तपस्या का कायोत्सर्ग ध्यान की प्रथा जैन धर्म में ही परंपरा से चली आरही है। योगी की इस मूर्ति के सिर पर सर्पफण हैं, जिन की संख्या तीन दिखाई देता है। जैन धर्म के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ और तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के सिर पर भी इसी प्रकार के सर्पफण पाए जाते हैं। यह मूर्ति पार्श्वनाथ की तो हो नहीं सकती क्योंकि उन को हुए तो करीब २७०० वर्ष हुए हैं। खोज करने वाले विद्वानों ने इस कायोत्सर्ग की मूर्ति वाली हड़प्पा की सील को ५००० वर्ष पुरानी माना है। अतः यह मूर्ति जैन धर्म के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की ही होनी चाहिये। इस

इस खोज से केवल जैनधर्म के बहुत प्राचीन होने का ही पता नहीं चलता किन्तु जैनियों के सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के अस्तित्व पर भी बड़ा प्रकाश पड़ता है। इस में कोई आश्चर्य नहीं कि भविष्य में और कुछ प्राचीन अवशेष मिल जायें, जिन के आधार पर पार्श्वनाथ की तरह सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ को भी ऐतिहासिक व्यक्ति मान लिया जाय। जिस प्रकार अब तक अतीत काल के अवशेषों ने भविष्य के इतिहास पर सत्य का प्रकाश डाला है और उसे उज्ज्वल बनाया है, इसी प्रकार भविष्य में भी होता रहेगा।



॥ द्राविड़ जाति में जैन धर्म ॥

कुछ भारतीय विद्वान् तो भारत को अनादिकाल से आर्यों का निवास स्थान मानते हैं किन्तु कुछ विद्वान् भाषा विज्ञान के आधार पर तथा अन्य कई ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर आर्यों का बाहर से भारत में आगमन बताते हैं। आधुनिक खोज गवेषणा से यह स्पष्ट है कि आर्यों के भारत में आगमन से पूर्व यहाँ द्राविड़ जाति के लोग रहते थे। द्राविड़ जाति के दास, दस्यु, असुर आदि कई भेद थे। इतिहास से यह जाति भारत की प्राचीनतम जाति सिद्ध होती है। आर्यों के भारत में आगमन के पश्चात् दोनों जातियों में भारी संघर्ष चलता रहा। वैदिक धर्म का सर्व प्राचीन धर्म ग्रन्थ ऋग्वेद इस की साक्षी देता है। उदाहरण के लिए सुदास के पिता दिवोदास ने यदु और तुर्वश को हराया।

ऋग्वेद ८ ६१ २

कुछ काल पश्चात् दोनों जातियाँ शान्ति पूर्वक रहने लगीं। दोनों जातियों में विवाह सम्बन्ध भी होने लगे, और दोनों ने एक दूसरे के देवताओं को भी अपना लिया और उन की पूजा करने लगे। द्राविड़ लोग नाग पूजा करते थे। आर्यों ने भी इसे अपनाया। आजकल भी जो नाग पञ्चमी का त्योहार चला आता है वह उसी प्राचीन प्रथा का प्रतीक है। द्राविड़ों ने आर्य जाति के विष्णु देवों को मानना और पूजना प्रारम्भ कर दिया। भगवान् के गले में [illegible] मालाएँ हार इस द्राविड़ और आर्यों के

सम्मिश्रण को प्रकट करता है। जैन धर्म के सातवें और तेईसवें तीर्थंकरों के शिरों पर सर्पफण के चिन्हों का भी होना कुछ २ उसी प्राचीन सभ्यता की झलक हो सकता है। अपने २ धर्म ग्रन्थों के अनुसार हम भले ही इन चिन्हों का जैसा चाहें अर्थ कर लें किन्तु साथ २ चले आते धर्मों के पारस्परिक प्रभाव को छिपाया नहीं जा सकता।

द्राविड़ जाति के लोग जिन्हें आर्य अपना शत्रु मानते थे और अनार्य कह कर पुकारते थे अन्त में आर्य लोगों को प्रभावित करने में सफल हुए। यहां तक कि वे हिन्दू ही नहीं ब्राह्मण बन गये। किन्तु विशेषता यह रही कि ब्राह्मण बनकर भी वे द्राविड़ जाति से अलग नहीं हुए। द्राविड़ जाति का गौरव सदा उन के सामने रहता था। आर्य जाति के मूलपुरुष मनु को भी उन्हों ने द्राविड़ बना डाला। भागवत पुराण में लिखा है —

योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षि र्द्रविडेश्वरः ।
स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम् ॥

अर्थात् सत्यव्रत नाम का राजर्षि द्रविड़ राजा ही वैवस्वत मनु बन गया।

इस श्लोक में तो आर्यों की उत्पत्ति ही द्राविड़ों से होने का प्रयत्न किया गया है। जो सर्वथा असत्य है किन्तु तत्कालीन द्रविड़ों के व्यापक प्रभाव का इस से स्पष्ट पता चलता है। आर्य जाति शायद द्राविड़ लोगों को इतना प्रभावित न कर सकी जितना द्राविड़ों ने आर्य जाति को किया। सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित रघुनन्दन शर्मा जी वैदिक सम्पत्ति के पृष्ठ ३७७ पर लिखते हैं कि रावण भी द्रविड़ राजा था और उस ने वेदों पर भाष्य लिखा था। हिंसामय यज्ञ सुरापान, मांसभक्षण, व्यभिचार और लिंगपूजनादि सब दूषित बातें द्रविड़ों से ही आर्यों में आईं।

श्री मिश्रबन्धु जी भारत वर्ष के इतिहास भाग १ पृष्ठ ६८ पर लिखते हैं कि —

'प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से इतना अनुमान होता है कि यह अनार्य लोग भूत, प्रेत पर्वत और वृक्ष आदि को पूजते थे। आर्य मत से रुद्रकाली आदि के पूजन-विधान तत्कालिक अनार्यमत की छाया से समझ पड़ते हैं।"

अस्तु, उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि द्रविड़ और आर्य जाति या धर्मों में संघर्ष के पश्चात् मेल हो गया था और दोनों ने एक दूसरे की संस्कृति को अपना लिया। निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि कौन सी प्रथा किसने किससे अपनाई क्योंकि धर्मग्रन्थों में जिस पाठ को विद्वानों का एक दल प्रक्षिप्त मानता है उसी को दूसरा दल मौलिक स्वीकार करता है।

जैन धर्म को हम भारत में अनादि काल से चला आता धर्म मानते हैं। अब प्रश्न यह है कि जब द्राविड़ और आर्य जाति में संघर्ष चल रहा था और जब अन्त में दोनों ने एक दूसरे की संस्कृति को अपना लिया। उस समय जैन धर्म का भी अस्तित्व मिलता है या नहीं! अभी तक मेरे देखने में तो कोई ग्रन्थ नहीं आया, जिस में उस समय के जैन धर्म के इतिहास का पता चल सके। हां यत्र तत्र जैन और वैदिक धर्म के ग्रन्थों में कुछ उद्धरण अवश्य ऐसे आते हैं जिनमें हम तत्कालीन जैन धर्म के अस्तित्व का पता लगा सकते हैं। जैसे दिगम्बर जैन सम्प्रदाय का "दर्शन सार" नामक एक ग्रन्थ है। इस में बहुत से जैन संघों की स्थापना बताई गई है। दर्शनसार में लिखा है कि वज्र नन्दी ने मथुरा में द्राविड़ संघ की स्थापना की।
मूल संघ की देव, नन्दी, सिंह सेन नाम की चार

उन चारों में द्राविड़ संघ को स्थान नहीं मिला। वज्रनन्दी ने एक स्वतन्त्र ही द्राविड़ संघ की स्थापना की। एक विद्वान् ने तो द्राविड़ संघ को नन्दी संघ की ही शाखा माना है किन्तु मुझे उनकी युक्तियां सन्तोष जनक प्रतीत नहीं होतीं। आप लिखते हैं कि "अकलंक ने मूल संघ को चार संघों में विभक्त किया और द्राविड़ संघ को उसमें नहीं रखा यदि द्राविड़ सम्प्रदाय प्राचीन होता तो इन चार में अवश्य आता अतः यह बाद की स्थापना है।"

यह युक्ति कोई सारपूर्ण प्रतीत नहीं होती। हो सकता है कि श्री मूल संघ के साथ २ चले आते द्राविड़ संघ में कुछ सैद्धान्तिक मत भेद हो जिन के कारण अकलंक ने उसे अपने नवीन चार संघों में रखना उचित न समझा हो। अतएव चार संघों में द्राविड़ संघ का न रखा जाना उसकी प्राचीनता का बाधक नहीं है। अपने कथन की सिद्धि के लिये आप लिखते हैं कि "इरुंगुला संघ जिस में बड़े २ जैन गुरु हुए हैं और जिस का द्राविड़ संघ से गहरा सम्बन्ध था वह भी नन्दी संघ का ही भेद था"। इरुंगुलान्वय को नन्दी संघ की शाखा मानने में हम कोई आपत्ति नहीं किन्तु द्राविड़ संघ का इरुंगुलान्वय से सम्बन्ध मात्र उसे नन्दी संघ की शाखा किसी सूरत में सिद्ध नहीं कर सकता।

११६० ईस्वी के रिकार्ड में जो द्राविड़ संघ के अनुयायी भूतबली, पुष्पदन्त और समन्तभद्र आदि नाम आए हैं उन्हें द्राविड़ संघ के प्रचारक और उन्नति पथ पर लाने वाले मानना अधिक संगत मालूम होता है। द्राविड़ संघ से सम्बन्ध रखने वाले या उस के अनुयायी भद्रबाहु जिनका स्वर्गारोहण काल वीर संवत् १७० है उनको केवल लेखक ने उनकी स्मृति बनाए रखने के लिये लिख दिया है। ऐसी

उपना करना भी नहीं जँचता। इस लिये द्राविड़ संघ को भी मूल से भी प्राचीन या उसके साथ २ चला आता संघ मानने में कोई बाधा मालूम नहीं देती।

इस प्रकार जैन धर्म में द्राविड़ संघ की स्थापना से यह [illegible] प्रकार अनुमान लगाया जा सकता है कि द्राविड़ जाति की [illegible] ऐसी शाखा अवश्य थी जो जैन धर्मावलम्बी थी। [illegible] प्राचीन द्राविड़ जाति में जैनधर्म का अस्तित्व भी द्राविड़ [illegible] स्थापना में कारण हो सकता है।

जैन साहित्य के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में भी कुछ [illegible] इस सत्य के पोषक हैं। जैनधर्म में आदि तीर्थंकर [illegible] जाते हैं। भागवत् पुराण में ऋषभ को वैष्णवों का [illegible] है और इस में वर्णित ऋषभ जीवन चरित्र जैन [illegible] से बिल्कुल मिलता जुलता है। इतना समानता है कि [illegible] नहीं [illegible] जाता कि ये दोनों वैदिक और जैन ऋषभ भिन्न हैं। [illegible] के भी पुत्रों के वर्णन में यह श्लोक आता है —

> कविर्हरि रन्तरिक्ष प्रबुद्ध [illegible]।
> आविर्होत्रोऽथ द्रविडश्चमस [illegible] ॥

यहां द्रविड शब्द विशेष [illegible] है। [illegible] स्वामी को हम आदि तीर्थङ्कर मानते हैं। उन के पुत्र का द्रविड़ [illegible] भी द्राविड़ जाति में जैनधर्म का [illegible] सिद्ध करता है। [illegible] भागवत् पुराण में इन राजकुमारों को [illegible] बाले बताया है किन्तु यह उन्हें [illegible] ने देखा [illegible] और जैन धर्म का उस [illegible] दूसरे के सिद्धान्तों को परिवर्तित [illegible] स्वाभाविक है।

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि जैनधर्म आर्यों के आगमन से पूर्व प्रचलित धर्मों में से एक है। आर्यों के आने के पश्चात् भी इसने उनसे बराबर टक्कर ली और अपने उच्च सिद्धान्तों के बलपर फिर आर्य धर्म भी बन गया। समय समय पर कई बार यह भारत का राजधर्म भी बना। इसके उत्कृष्ट सिद्धान्तों ने ही इसे वैदिक और बौद्ध जैसे परिपन्थियों में जीवित रखा। बुद्धधर्म जैसे व्यापक राजधर्म भारत से लुप्तप्राय हो गए किन्तु जैनधर्म अपना अस्तित्व बनाये हुए है।



"श्वेताम्बर मत की प्राचीनता"

जब किसी समाज धर्म या सम्प्रदाय में अनेक त्रुटियां तथा न्यूनताएं अपनी अन्तिम सीमा पर पहुंच जाती हैं तो उन्हें सुधारने के लिये किसी सुधारक महापुरुष का जन्म होता है और वह अपने दृष्टिकोण के अनुकूल किसी नये धर्म या सम्प्रदाय को जन्म देता है। इस प्रकार अनादिकाल से प्रवाह रूप संसार में समय, परिस्थिति तथा वातावरण के परिवर्तन के कारण अनेक धर्म और सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती रहती है। किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय की स्थिरता उसके सिद्धान्तों पर निर्भर है। यदि उसके सिद्धान्त समयानुकूल हैं और समाज के लिये उपयोगी हैं। तो उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि और स्थिरता निश्चित है। यदि उसके नियम समय विरुद्ध हैं तथा समाज को अवनति पथ पर लाने वाले हैं तो उनका अस्तित्व शीघ्र मिटने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। यही कारण है कि संसार में आजतक सैकड़ों ऐसे धर्म या सम्प्रदाय उत्पन्न हुए जो अल्पकाल के लिये ही फले फूले और उत्तरोत्तर समय विरुद्ध होने के कारण वे ऐसे मिटते गए कि आज उनका नाम निशान भी नहीं रहा। जो समयानुकूल थे तथा जिनकी नींव सत्य और संयम पर रखी हुई थी वे अनेक प्रतिरोधों का सामना करते हुए अबतक अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं और संसार को उन्नत पथ की ओर ले जा रहे हैं। जैनधर्म भी उन्हीं महान धर्मों में से एक है। इस में भी यद्यपि उत्तरोत्तर अनेक सम्प्रदाय बनते आते हैं परन्तु वास्तव में परंपरा से चले आने इस

सीमित है। इस क अतिरिक्त वेद मन्त्रों में जो कशिन् शब्द आया है। वह भी ध्यान देन योग्य है। कशिन् का अथ है लम्बे २ बालों वाला। वास्तव में लम्बी २ जटाओं को धारण करने वाले जिन्हें हम आज भी महती सख्या में भारत क कई प्रदेशों में पाते हैं वदिक सम्प्रदाय के ही साधु होने चाहिये, दिगम्बर जन के नहीं। दिगम्बर साधु विशाल केश धारी नहीं पाए जाते। अत ऋग्वेद के मन्त्र से यह निर्णय करना कि श्वताम्बर स दिगम्बर प्राचीन हैं सम्भव नहीं हो सकता।

वतमान जैनधर्म के लिए जो ' जैन " शब्द प्रचलित है इस का प्रयोग भगवान् महावीर स्वामी क बाद म प्रयोग में आने लगा है। इस क पूर्व 'तीर्थंकर धम' को निगान्ठ पवयण" अर्थात् निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम स पुकारा ज ता था। महाराज अशोक क शिलालखों में भी यत्र तत्र 'निग्गठ' शब्द का प्रयोग आता है। वहां 'निग्गठ' स अभिप्राय जैन धम स ही है। कुछ विद्वान् निर्ग्रन्थ का अथ वस्त्र रहित करते हैं और उससे यह सिद्ध करते हैं कि अशोक के समय में जो जैनधर्म प्रचलित था वह दिगम्बर जैन था क्योंकि दिगम्बर जैनियों की ही मूर्तियां तथा साधु नग्न पाए जाते हैं। इस प्रकार वे 'निर्ग्रन्थ' शब्द का व्याख्या स दिगम्बर सम्प्रदाय का श्वेताम्बर सम्प्रदाय से प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। मेर विचार से निग्रन्थ, शब्द का अथ उन्होंने ठीक नहीं समझा। 'निर्ग्रन्थ' शब्द में 'ग्रन्थि" शब्द का अथ वास्तव में राग द्वेषादि बन्धन करना हो उचित जान पड़ता है। आत्मा को बन्धन में डालने वाले वास्तव म राग द्वेष ही हैं न कि बाह्यापकरण रूप वस्त्रादि। वस्त्रादि बाह्य परिग्रह को धारण करने वाले शरीर म स्थित आत्मा यदि रागद्वेष आदि स मुक्त हो जाय तो उसे ग्रन्थि रहित समझना चाहिये। आध्यात्मिक मुक्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता है जिस क द्वारा रागद्वेषादि

शत्रुओं का नाश होता है। वस्त्रादि बाह्योपकरण आत्म धर्म में किसी प्रकार की भी बाधा नहीं डाल सकते। क्या वस्त्रादि बाह्योपकरणों से दूर रहने मात्र से आत्मा कभी रागादि दोषों से मुक्ति पा सकता है! आजकल भी हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ वस्त्रादि बाह्योपकरणों के सद्भाव में भी पवित्रात्माएं छिपी मिलती हैं। और इस के विपरीत बाह्योपकरणों से हीन शरीरों में रागद्वेषादि से मलिन आत्माएं वर्तमान हैं। अतः आत्म धर्म में बाधक ज्ञान का अभाव हो सकता है वस्त्रादि का सद्भाव या अभाव इस के लिये अपेक्षित नहीं। कितने आश्चर्य की बात है कि आज विकासवाद के युग में भी कितने ही समझदार पुरुष इन बातों को इतना महत्व देते हैं। अस्तु, मेरे विचार से 'निर्ग्रन्थ' शब्द का अर्थ रागद्वेषादि बन्धन मुक्त करना ही संगत है। इस प्रकार 'निर्ग्रन्थ' शब्द के आधार पर दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता सिद्ध नहीं हो पाती।

देवसेनाचार्य कृत दर्शनसार नाम का एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में एक श्लोक आता है जिस के आधार पर कुछ विद्वानों ने दिगम्बर मत को श्वेताम्बर मत से प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रम संवत् ६ ६ है। वह श्लोक इस प्रकार है —

छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सारट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो॥ श्लोक ११।

अर्थात् विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् सौराष्ट्र देश के वल्लभी पुर में श्वेताम्बर संघ की उत्पत्ति हुई।

इस से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि विक्रम की दूसरी सदी में ही श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई।

से पूर्व दिगम्बर सम्प्रदाय ही परंपरा से चला आता था। मेरे विचार से उपर्युक्त दर्शनसार का उदाहरण कई महत्व नहीं रखता क्योंकि इस प्रकार का एक उदाहरण श्वेतांबर ग्रन्थों में भी आता है। वह गाथा इस प्रकार है —

छव्वास स स्सेहिं नवुत्तरेहिं सिद्धिगयस्स वीरस्स ।
तो बोडियाए दिट्ठी रहवीर पुरे समुपन्ना ॥

अर्थात्– वीर भगवान् के मुक्त होने के ६०६ वर्ष पश्चात् बोट्टिको अर्थात् दिगम्बरों का प्रवर्तक रथवी पुर में पैदा हुआ।

इस के अतिरिक्त दर्शनसार के उदाहरण के आधार पर यदि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष पश्चात् मान ली जाए तो एक बड़ी अड़चन सामने आती है। महाराज अशोक के पश्चात् कलिङ्गाधिपति खारवेल बना। वह जैन सम्राट था। उदयगिरि और खण्डगिरि स्थित हस्तिगुफा नामक गुफा से जो खारवेल का शिलालेख मिला है उस का सुयोग्य विद्वान् श्री के० पी० जयसवाल ने विवरण दिया है। इस लेख का समय ईस्वीसन् से १७० वर्ष पूर्व निश्चित किया है। सम्राट खारवेल किस प्रकार जैन साधुओं को अनेक प्रकार के कौशेय और श्वेतवस्त्र बांटा करते थे इसका इस शिलालेख में बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। यदि श्वेताम्बरों की उत्पत्ति विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुई होती तो खारवेल का ईसा पूर्व १७० में जैन साधुओं को श्वेत तथा पट्ट वस्त्र बांटना कैसे सम्भव हो सकता है। अत यह स्पष्ट है कि दर्शनसार की गाथा दिगम्बर मत की प्राचीनता को सिद्ध नहीं करती।

संसार में जितने भी उच्चकोटि के धर्म हैं प्रायः सब आध्यात्मिक दृष्टि से पुरुष और स्त्री को समान अधिकारी समझते हैं। सब धर्मों के

प्राचीन प्रमाणिक ग्रन्थों में पुरुष और स्त्री दोनों का ज्ञान में समान अधिकारी माना है। गत विश्व युद्ध से भी यह स्पष्ट है कि महिला ए जीवन क्षेत्र के किसी भी विभाग में पुरुषों से न्यून नहीं रही हैं। साहित्य, विज्ञान और राजनीति आदि क्षेत्रों में स्त्रियों ने ऐसी प्रवीणता दिखाई है जिसे किसी भी अंश में पुरुषों से कम नहीं कहा जा सकता। यद्यपि हमारे देश में स्त्री जाति को अबला जाति अथवा निर्बल जाति के नाम से पुकारा जाता है किन्तु संसार के इतिहास में स्त्री जाति के ऐसे वीरता के कारनामे मिलते हैं जिन के सामने पुरुष का भी सिर झुकाना पड़ता है। भारत के अति प्राचीन धर्म ग्रन्थों से भी यह स्पष्ट है कि स्त्री ने पुरुष के समान ही अधिकार थे। यहां तक कि यज्ञ में भी पत्नी के बिना पति दीक्षित न हो सकता था। राम ने अश्वमेध यज्ञ किया तो सीता के अभाव में उस की स्वर्णमयी मूर्ति बना कर रखनी पड़ी। गार्गी की विद्वत्ता से विद्वान भली भांति परिचित हैं। इस प्रकार वैदिक धर्म ग्रन्थों में स्त्री का स्थान कर्मकाण्ड तथा ज्ञानादि क्षेत्रों में समान है। प्राचीन उपलब्ध शिलालेखों ताड़पत्र लिखित ग्रन्थों और सिक्कों आदि के आधार पर जो गवेषणा हुई है उस से यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म अनेक सदियों से भारत का व्यापक धर्म रहा है। इतने महान् और व्यापक धर्म के साथ २ चलना और अपना सर्वमय जीवन बिताना एक ऐसे ही धर्म के लिये सम्भव हो सकता है जिस के सिद्धान्त या तो अपने प्रतिद्वन्द्वी के मुकाबले के हों या किसी दृष्टि में उस से भी उत्कृष्टता रखते हों। मेरे विचार में यदि जैन धर्म प्राचीन काल में स्त्री को ज्ञानक्षेत्र में पुरुष के समान अधिकारिणी न मानता तो वैदिक विद्वान् उसकी ऐसी खिल्ली उड़ाते और उसका ऐसा खण्डन करते कि आज उसका अस्तित्व भी शायद कठिनता से रह पाता।

समय परिवर्तन के साथ २ संसार की परिस्थिति सदा बदलती रहती है। जो जाति, धर्म या सम्प्रदाय अपने को समय के अनुकूल बना लेता है वही अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है। जिस में समयानुकूल परिवर्तित होने की शक्ति नहीं है उसका मिट जाना स्वाभाविक है। किन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि आज के वैज्ञानिक और विकासवाद के युग में भी कितने पठित व्यक्ति भी पुरानी अन्धपरम्परा के रोग से मुक्त नहीं हो पाए हैं। अस्तु, मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि अन्य धर्मों की तरह जैन धर्म में भी स्त्री को पुरुष के समान ही ज्ञान की अधिकारिणी माना है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनेक साध्वियें इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

जैन धर्म के सिद्धान्त बड़े विशाल और महत्वपूर्ण हैं। जैन धर्म मनुष्य मात्र को चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी हो मोक्ष का अधिकारी मानता है। जैन धर्म की विशालता देखने के लिये श्री हेमचन्द्राचार्य का अधोलिखित श्लोक ध्यान देने योग्य है। जब आचार्य जी वैदिक मत के देवता भगवान् सोमनाथ के मन्दिर के सामने आए तो उन्हों ने कहा —

भवबीजाङ्कुर जनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

अर्थात्—संसार में उत्पत्ति के मूल कारण रागादि जिसके नष्ट हो गए हैं ऐसा देवता चाहे उसका नाम ब्रह्मा हो विष्णु हो शिव हो या जिन हो उसको मैं नमस्कार करता हूं। इतनी विशालता रखने वाला जैन धर्म स्त्री को मुक्ति की अधिकारिणी न मानता यह सम्भव नहीं। अतः उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि स्त्री को मुक्ति की अधिकारिणी न मानने वाला दिगम्बर मत बाद का है और श्वेताम्बर जैन उससे प्राचीन है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों से यह स्पष्ट है कि वीर निर्वाण सम्वत् ६८० (विक्रम सम्वत् ५१०) के आस पास जैन संघ वल्लभीपुर में देवर्धि गणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में एकत्रित हुआ। अब तक जो शास्त्रीय ज्ञान प्राचीन परम्परा से बिखरा पड़ा था उस का कई कारणों से लोप होना भी प्रारम्भ हो गया था। उस का विस्तार रूप से फैलाव सर्वथा सम्भव न था। अतः संघ का ध्यान इस ओर गया कि आगम और अन्य साहित्य को एकत्र ग्रथित करना परमावश्यक है। ऐसा करने से यह ज्ञान भविष्य के लिये सुचारु रूप से सुरक्षित भी रह सकता था और इस का सार्वत्रिक प्रचार भी पूर्ण रूप से हो सकता था। अतः संघ की अनुमति से बिखरे हुए आगम तथा अन्य साहित्यिक ज्ञान को एकत्र ग्रथित किया गया।

दिगम्बर सम्प्रदाय का साहित्य इस साहित्य के बहुत पश्चात् लिखा गया है। यह बात नीचे लिखे उदाहरण से स्पष्ट है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के मतानुसार जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थंकर पहिले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आए पश्चात् इन्द्र की आज्ञा से हरिनैगमेषी देवता ने उन्हें क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में रखा। यह वर्णन कई श्वेताम्बर ग्रन्थों में आता है इसका विस्तार पूर्वक वर्णन पढ़ना हो तो पाठक कल्पसूत्र में पढ़ सकते हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इस प्रकार की घटना का कहीं उल्लेख नहीं और न ही दिगम्बर लोग इस बात को मानते ही हैं। श्वेताम्बरों के मत की प्रामाणिकता के लिये मथुरा के कंकाली टीले से एक शिला मिली है जिस पर भगवान् महावीर स्वामी के गर्भ हरण का बड़ा सुन्दर चित्र खुदा हुआ है। लिपि तत्व के धुरंधर विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि यह शिला लेख ईस्वी सन् से एक शताब्दी पहले का खुदा हुआ है। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य की प्राचीनता भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता

प्रकाश डालती है। उपर्युक्त उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि विक्रम संवत ५१० के लगभग वल्लभी पुर में जिस ज्ञान को ग्रथित किया गया था वह प्राचीन परंपरा से चला आता ज्ञान है। अतः साहित्यिक दृष्टि से भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय दिगंबर सम्प्रदाय से प्राचीन ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार दिगंबर शब्द के अर्थ से ऋग्वेद की ऋचा से निग्रंथ शब्द की परिभाषा से, दर्शन सार के उद्धरण से और साहित्यिक दृष्टि से तो श्वेतांबर सम्प्रदाय से दिगंबर सम्प्रदाय प्राचीन नहीं ठहरता। श्वेतांबर ही दिगंबर से प्राचीन सिद्ध होता है। हां भविष्य में होने वाली नई गवेषणाओं से यदि दिगंबरों की प्राचीनता को प्रमाणित करने वाले और नए कुछ प्रमाण मिल जाएं तो दूसरी बात है। यह लेख केवल गवेषणात्मक दृष्टि से लिखा है सांप्रदायिक दृष्टि से नहीं। यदि अब भी ऐसे अकाट्य प्रमाण मिल सकें जिनसे दिगंबर श्वेतांबरों से अधिक प्राचीन सिद्ध होते हों तो भी मेरे लिये कम प्रसन्नता की बात नहीं।



जैन धर्म और राजनीति

वैदिक, जैन और बौद्ध ये तीनों धर्म बहुत प्राचीन काल से साथ २ चले आते हैं। यों तो तीनों धर्मों के आचार्यों ने 'अहिंसा परमोधर्म' अर्थात् अहिंसा ही मानव का महान् धर्म है इस सिद्धांत को अपने २ दृष्टिकोण से उचित स्थान दिया है किन्तु जैन धर्म में अहिंसा का सिद्धान्त अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुका है। अहिंसा का अतिरूप चाहे आजकल के समय के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल उस से यहां कोई मतलब नहीं है। मैं यह बात अवश्य दावे के साथ कह सकता हूं कि अहिंसा का वास्तविक, तात्विक या शुद्ध स्वरूप देखना हो तो जैन धर्म में ही मिल सकता है। जैनधर्म में हिंसा दो प्रकार की मानी गई है, द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। द्रव्यहिंसा का सामान्य अर्थ है किसी जीव को प्राणों से वियुक्त करना या दूसरे शब्दों में उसे मारना। भावहिंसा वह होती है जिस में विचार से किसी जीव का अनिष्ट किया जाता है। द्रव्यहिंसा का निषेध तो अन्य धर्मों के धर्मग्रन्थों में भी अपने २ दृष्टिकोण से उचित रूप से ही किया गया है किन्तु भाव हिंसा को जितना महत्वप्रद स्थान जैन धर्म ग्रंथों में दिया है उतना अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। जैन शास्त्रों में भाव हिंसा का सूक्ष्मस्वरूप नीचे दिये उदाहरण से पाठकों को स्पष्ट हो जाएगा।

विक्रम् की ११ वीं शताब्दी में गुजर प्रान्त के पाटन नगरमें राजा कुमार पाल राज्य करता था। पहिले वह कुल परंपरागत वैष्णव धर्म

का अनुयायी था और बाद में उस ने तत्कालीन प्रसिद्ध जैन विद्वान् श्री हेमचन्द्राचार्य के प्रभाव में आकर जैनधर्म को स्वीकार किया। जैनाचार्य ने राजा कुमारपाल को जैनधर्म की भली भांति शिक्षा दे और उस से मांसाहार का त्याग करवाया। वह जैनधर्म के सिद्धान्तों से इतना प्रभावित हो गया था कि वह वास्तव में अपना जीवन उन के अनुकूल ही बनाने लग गया था। एक दिन वह बड़ा उदास मन होकर गुरुदेव के चरणों में आया, और प्रायश्चित की प्रार्थना करने लगा। गुरुदेव ने पूछा – प्रायश्चित कौन से अपराध के लिये करना चाहते हो? राजा कुमार पाल ने कहा कि आज मैंने अपने आहार में गिरी या लुम्बों की सब्जी खाई। उस गिरी की सब्जी को दांतों से चबा रहा था तो मुझे पूर्वानुभूत मांस का सा स्वाद आने लगा और मेरी रुचि परित्यक्त मांस की ओर गई। अतः यह मानसिक या भाव हिंसा थी। और मैं उस के निवारण के लिये प्रायश्चित करना चाहता हूं। आचार्य ने कहा – हां इस प्रकार की भावमयी या मानसिक हिंसा के लिये अवश्य प्रायश्चित करना होगा। और इस का प्रायश्चित यही है कि तुम एक पत्थर का टुकड़ा लेकर स्वयं अपने हाथ से अपने दांतों को तोड़ डालो। आज्ञा पाते ही कुमारपाल ने झट दांतों को तोड़ने के लिये पत्थर उठाया किन्तु वह प्रहार करने को ही था कि गुरुदेव जी ने झट उसका हाथ पकड़ लिया और कहा – प्रायश्चित हो गया है। तुम ने वास्तविक हिंसा या द्रव्य रूप हिंसा नहीं की किन्तु भाव रूप में की थी। अब तुम ने अपने दांतों को तोड़ने का दृढ़ निश्चय कर लिया है अतएव इस भावमयी अहिंसा से उस भावहिंसा का निवारण हो गया है।

उपर्युक्त उदाहरण से पाठकों को भली भान्ति स्पष्ट हो गया होगा कि जैनधर्म में अहिंसा कितनी चरम सीमा तक पहुंची हुई है।

द्रव्य हिंसा के तो अनेक सुन्दर उदाहरण आप को वैदिक और बौद्ध धर्म ग्रंथों में भी मिल जायगे किंतु भाव हिंसा के इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र कम ही देखने में आते हैं। जैन धर्म मन, वाणी, *और कर्म इन तीनों से हिंसा के परित्याग की शिक्षा देता है।*

जैन धर्म में "अहिंसा परमो धर्म" के सिद्धान्त को अतिरूप में देखकर कई लोगों के मन में ये शंकाएं उठा करती हैं कि यदि जैनियों के हाथ में किसी देश का राज्य सौंप दिया जाए तो निःसंदेह वहाँ अराजकता के सिवाय और क्या हो सकता है। जो लोग कीड़ों को मारना पाप समझते हैं वे दंड प्रधान राज्य को कैसे चला सकते हैं। जैनी राजा किसी प्रकार की भी हिंसा करने के लिये तैयार न होगा और राज्य का चलाना हिंसा के बिना [illegible] है। प्रजा में चोर, लुटेरे, धूर्त, और आततायियों का कुछ [illegible] में होना स्वाभाविक है और उन को दबाने के लिये हिंसा का आश्रय भी अनिवार्य है। इस के अतिरिक्त कोई बलवत्तर विदेशी राजा यदि चढ़ाई कर दे तो वह सहज ही में जैन राजा को अपना गुलाम बना सकता है और साथ २ उस की प्रजा को [illegible]। जैनी राजा कभी भी हिंसा के भय से शत्रु से युद्ध करना पसंद न करेगा। हिंसा से वह परतन्त्रता को अच्छी समझेगा इस लिये जैनधर्म कायरों का धर्म है। भारत वर्ष में इस धर्म के अनुयायी भी प्रायः बनिये हो वैश्य हैं। जैन जाति कभी भी वीरता के लिये प्रसिद्ध नहीं [illegible] कायरता का कोई दृष्टांत देना हो तो जरूर लोग वैश्य [illegible] दते हैं।

इस प्रकार के विचार रखने वाले सज्जनों के लिये [illegible] मैं यह बताना चाहता हूं कि जैन धर्म [illegible] परम्परा के क्षत्रियों का [illegible] है। यही कारण है कि [illegible]

वण को ही सब स बड़ा वण माना है। जैन धर्म के त थङ्कर भी क्षत्रिय वण में ही अवतृत होते रहे हैं। जैसे २ जैन धमावलम्बियों पर अहिंसा के सिद्धा त का गहरा प्रभाव पड़ता गया वे अन्य कृषि आदि कर्मों का छोड़ कर वाणिज्य की ओर झुकते गए क्योंकि वाणि य में अ य व्यवसायों की अपेक्षा हिंसा कम होती है। वाणिज्य के प्रभाव स वे बड़ी सख्या में पू जीपति बनते गए। पू जी क प्रभाव से उनमें विलास प्रियता भा आ गई और विलास प्रियता क आन से जैसा अकसर लक्ष्मी का प्रभाव होता है उनसे वीरता के भाव भी नष्ट होने लग गए। इस प्रकार कई सदियों के निरन्तर वाणिज्य व्यवसाय के प्रभाव के परिणाम स्वरूप आज वे शुद्ध वैश्यों के रूप में हमारे सामने वतमान हैं। अत आज की जैन समाज में यदि वीरता क अशों की कमी है ता उसके लिये जैन धम को या जैन धम के सिद्धान्तों को दोष युक्त नहीं ठहराया जा सकता। महात्मा बुद्ध का यदि कोई अनुयायी हिंसक हो तो इससे महात्मा बुद्ध का या बुद्ध धम का दोषी नहीं ठहराया जा सकता। मेरा तो यह विश्वास है कि प्रत्येक धर्म का सस्थापक या सुधारक उच्च कोटि के सिद्धान्तों को ही अपने अनुयायियों क सामने रखता है। किन्तु देश काल और परिस्थितियों क कारण यदि उन सिद्धान्तों में परिवतन आ जाता है या उस धम क अनुयायी उन सिद्धान्तों में अपनी दृष्टिकोण क अनुसार परिवतन कर लेते हैं ता इसमें किसी सस्थापक या सुधारक का दोष नहीं होता।

अब रही बात जैन राजा के राज्य की, अराजकता की और उसकी शत्रु द्वारा सहज दासता की। इस प्रकार की बातें वही लोग कर सकते हैं जो जैन शास्त्रों क म तव्य से सवथा अनभिज्ञ हैं। जैन शास्त्रों में अनेक चक्रवर्ती जैन राजाओं की कहानियें और जीवनियें मिलती हैं। जैन राजा अहिंसा का उचित स्थान देते हुए भी सुचारु रूप से

राज्य का प्रबन्ध चलाते थे और पूर्ण शक्ति से शत्रु का सामना करके देश की रक्षा करते थे। यहां जैन शास्त्रों में आए चक्रवर्ती जैन सम्राटों के जीवन से कई उदाहरण लिखे जा सकते हैं किन्तु आधुनिक विचार के विद्वान उन्हें पौराणिक कथाएं कह कर अवहेलना कर देंगे। अतः ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ऐसा उदाहरण देकर ही पाठकों को जैन धर्म में राजसत्ता का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जायगा।

जिस प्रकार वैदिक और बौद्ध धर्म में राजनीति पर अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं इसी प्रकार जैन धर्म भी जब उन्नति के शिखर पर था तब इसके विद्वानों ने भी राजनीति विषय पर ग्रन्थ लिखे थे। जैसे २ जैन राजसत्ता उठती गई जैन राजनैतिक साहित्य का महत्व भी कम होता गया और वह दिन प्रति दिन लुप्त होता रहा। विक्रम की ११ वीं शताब्दी तक केवल "अर्हन्नीति शास्त्र" के उदाहरण यत्र तत्र बिखरे मिलते थे। अभी तक यह पता नहीं चल सका कि जैन राजनीति पर लिखे इस ग्रन्थ का कर्ता कौन था। इस शास्त्र का पता भी हमें हेमचन्द्राचार्य कृत "लघ्वर्हन्नीति" नामक ग्रन्थ से लगता है। कुमारपाल राजा ने अपने गुरु श्री हेमचन्द्राचार्य से यह प्रार्थना की कि वे जैन राजनीति पर छोटा सा ग्रन्थ तैयार करें। इस पर हेमचन्द्राचार्य ने "लघ्वर्हन्नीति" नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ के मङ्गलाचरण के बाद लिखा है—

कुमारपालभूपालाभ्यर्थनेन पूर्व- निर्मितान्।
अर्हन्नीत्यभिधानाद्धि शास्त्रात्सारमुद्धृत्य किंचन॥ १/६

भूप प्रजा हितार्थं हि सर्वशास्त्रानुसारतः विधायेदम्।
लघ्वर्हन्नीति संज्ञं तु सुप्रबोधं करोम्यहम् ॥ १/७

ब्रह्मा ने मुख से ब्राह्मण की, भुजाओं से क्षत्रिय की, उरू से वैश्य की और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति की। जैन मन्तव्य भी इस के साथ प्रायः मिलता जुलता ही है। जैन धर्म के आदि पुराण के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने हाथ में तलवार पकड़ कर क्षत्रियकी, उरू से चलने का संकेत करके वैश्य की और चरणों से शूद्र की उत्पत्ति की। ब्राह्मणों की उत्पत्ति बाद में ऋषभ स्वामी के पुत्र भरत ने शास्त्र पढ़ाते हुए मुख से की।

जैन धर्म में वर्णव्यवस्था प्रारम्भ से कर्म से मानी जाती है किन्तु वैदिक धर्म में विशेष जोर जन्म से वर्ण व्यवस्था मानने पर दिया है। यद्यपि वैदिक धर्म ग्रन्थों में ऐसे भी अनेक प्रमाण हमारे सामने हैं जिन से वर्ण व्यवस्था कर्म से सिद्ध होती है किन्तु व्यापक रूप से जन्म से ही वर्णव्यवस्था प्रचलित रही है। मेरे विचार में जैन शास्त्रों में प्रतिपादित कर्म वर्ण व्यवस्था का परित्याग कर आज की जैन समाज जो व्यापक रूप में जन्मगत वर्ण व्यवस्था को मानने लगी है यह जैनियों पर वैष्णवधर्म का ही प्रभाव है।

इसी प्रकार शत्रु पर चढ़ाई करने के समय के विषय में भी प्रायः दोनों एक मत हो हैं। जैसे —

मार्गशीर्षे शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।
फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासौ प्रति यथा बलम्॥

मनु० अ० ७ श्लो० १८२

अर्थात् पवित्र अगहन के मास में राजा युद्ध की यात्रा करे अथवा जैसी अपनी सामर्थ्य हो उस के अनुसार फाल्गुण अथवा चैत्र के महीने में शत्रु के राज्य पर आक्रमण करे।

अन्येष्वपि तु कालेषु यदा पश्येद् ध्रुव जयम्।
तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपो ॥

मनु० अ० ७ श्लोक १८३

अर्थात्—राजा जब अपनी जीत निश्चय करे तथा जब देखे कि शत्रु इस समय विपत्ति में फसा है तब वह अन्य किसी महीने में युद्ध के लिए यात्रा करे।

अब पाठक जरा जैन राजनीति की ओर ध्यान दें—

सुमुहूर्ते सुशकुने मार्गादौ मास सप्तके।
युद्धं कुर्वीत राजेन्द्रो वीक्ष्य काल बलाबलम् ॥

लघ्व० पृ० २६ श्लोक ३३

अथात्—अच्छे मुहूर्त में अच्छे शकुन होने पर मार्गशीर्षादि आठ महीनों में अच्छा समय देख कर युद्ध के लिये प्रयाण करना चाहिये।

यहां पर भी श्रावण भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक इन चार महीनों में युद्ध यात्रा का निषेध कर के अहिंसा धर्म की ओर कितना ध्यान रखा गया है।

इसी प्रकार जैन राजनीति धर्म युद्ध के पक्ष में होते हुए भी यह कहती है कि—

शत्रावन्याय निष्ठे तु कर्तव्य यथोचितम्।

लघ्व० पृ० ३६ श्लोक ६

अर्थात् शत्रु यदि अन्याय पर तुला हो तब तो उस के साथ युद्ध अवश्य करना चाहिये।

इसी प्रकार दुष्टों को दण्ड देने के लिये और
के लिये ५९ जैन मन्तव्य एक ही है। जैसे

निग्रहेण तु पापाना साधूना सग्रहेण च ।
द्विजातय इवेज्याभि पूयन्ते सतत नृपा ॥

मनु० अ० ८ श्लोक ३११

अर्थात् - जिस प्रकार द्विज यज्ञों द्वारा पवित्र होते हैं उसी प्रकार राजा लोग पापियों को दड देने तथा साधुओं की रक्षा करने, से पवित्र हुआ करते हैं।

इस से मिलते जुलते लघ्वर्हन्नीति के उदाहरण पर पाठक जरा दृष्टि डालें -

शिष्टाना पालन कुर्वन् दुष्टाना निग्रह पुन ।
पूज्यते भुवने सर्वैं सुरासुर नृयोनिभि ॥

लघ्व पृ० २२१ श्लोक ६

अर्थात् - सज्जनों का पालन करने और दुष्टों का निग्रह करने वाले राजा लोग ससार में देव राक्षस और मनुष्य सब के द्वारा पूजे जाते हैं।

बाल आतुर और वृद्ध ये तीनों मनु और हेमच द्राचार्य दोनों की दृष्टि में क्षन्तव्य हैं-

क्षन्तव्य प्रभुणा नित्य क्षिपता कार्यिणा नृणाम् ।
बालवृद्धातुराणा च कुर्वता हितमात्मन ॥

मनु० अ० ८ श्लोक ३१२

अपना कल्याण चाहने वाले राजा तथा कार्यार्थी बालक वृद्ध तथा रोगी इन के द्वारा होने वाली निन्दा को क्षमा करता रहे।

बालातुरातिवृद्धाना क्षन्तव्य कठिन वच ॥

लघ्व० पृ० २२१ श्लोक ६

अर्थात् - बालक रोगी और अतिवृद्धों के कठिन वचन को भी क्षमा देना चाहिये।

वाला ब्राह्मण भी आततायी बन कर आवे तो बिना विचारे ही उसे मार डाले।

जैन राजा न्याय मार्ग में स्थित रहते हुए दण्ड तो प्रत्येक अपराधी को देना उचित समझते हैं किन्तु अहिंसा धर्म को सदा दृष्टि में रखते हुए वध के स्थान में उसे देश निकाला देना अच्छा समझते हैं। मारने की अपेक्षा अपराधी को ऐसा दण्ड देना जिस से वह जीवित रह कर आजन्म पश्चात्ताप करता रहे अधिक अच्छा है। अपराधी को मार कर नष्ट करने में कोई महत्व नहीं किन्तु उस को ऐसी परिस्थिति में रखना जिस से वह अपनी भूल को समझ सके उस के लिये प्रायश्चित्त कर सके और पुनः एक सच्चरित्र नागरिक बन सके, अधिक अच्छा है। बिगड़ी मशीनरी को नष्ट तो हर एक ही कर सकता है किन्तु उस के पुरजों को ठीक कर पूर्ववत् चला देने वाले का ही गौरव होता है। आज का सभ्य संसार भी इस सत्य को भलीभाँति समझने लगा है और उसी का यह परिणाम है कि बहुत से पाश्चात्य देशों में अपराधियों को मृत्यु दण्ड का विधान रोक दिया गया है। जैन राजनीति में भी मृत्यु दण्ड का सर्वथा अभाव नहीं है किन्तु दूसरे कठिन दण्डों के सद्भाव में इसका त्याग अधिक अच्छा माना जाता है।

वैदिक राजनीति के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अनपत्य मर जाय तो उस की सम्पत्ति की अधिकारिणी उस की पत्नी नहीं हो सकती किन्तु "राजगामी तदयाय सवय" अर्थात् राजा ही उसका अधिकारी होता है। मनु जी का कहना है कि —

वशाऽपुत्रासु चैव स्याद्रक्षणं निष्कुलासु च।
पतिव्रतासु च स्त्रीषु विधवास्वातुरासु च॥

मनु० अ० ८ श्लोक २६

बन्ध्या, पुत्रहीना, जिस स्त्री के कुल में कोई न हो, पतिव्रता विधवा तथा रोगिणी स्त्री के धन का रक्षक राजा होता है।

जैन राजनीति का मन्तव्य इस से सर्वथा भिन्न है हेमचन्द्र जी लिखते हैं —

अनपत्ये मृते पत्यौ सर्वस्य स्वामिनी वधू।

अर्थात्— पति यदि निःसंतान मर जाय तो उस की सारी सम्पत्ति की अधिकारिणी उस की पत्नी होती है। इसी प्रकार आगे —

भ्रष्टे नष्टे च विक्षिप्ते पत्यौ प्रव्रजिते मृते।
तस्य निश्शेष वित्तस्याधिपास्याद्वरवर्णिनी॥

पुत्रस्य सत्वेऽसत्वे च भर्तृवस्तुऽधिकारिणी॥
पृ० १९८ श्लो० ५२, ५३

अर्थात्— पति यदि भ्रष्ट हो जाये, नष्ट हो जाये, पागल हो जाये, सन्यासी हो जाये या मर जाए इन सब हालतों में उस के पुत्र हो चाहे न हो तो पति की सारी सम्पत्तिकी अधिकारिणी उस की पत्नी होता है।

वैदिक साहित्य में पुत्र का स्थान बड़ा विचित्र है —

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा॥

मनु अ० ९ श्लोक १३८

अर्थात्— जिस कारण बेटा "पुं" नाम नरक से पितरों की रक्षा करता है इसी से स्वयं ब्रह्मा ने बेटे को पुत्र कह कर पुकारा है।

इस सत्य की और भी पुष्टि करते हुए मनुजी लिखते हैं —

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः।
पितृणामनृणश्चैव स तस्मात्सर्वमर्हति ॥

मनु अ० ६, श्लोक १०६

पिता ज्येष्ठ पुत्र के जन्म लेते ही पुत्रवान् हो जाता है और पितृ ऋण से उऋण होता है अतएव पिता का सब धन पाने का अधिकारी वो है।

इस प्रकार मनु जी के मन्तव्य के अनुसार पुत्रहीन मनुष्य की गति नहीं हो सकती। वह मर कर नरक में जाता है। अतः पितरों को पिण्डदान के लिये पुत्र का होना नितान्त आवश्यक है। मनु जी का तो यहां तक कहना है कि पुत्र की उत्पत्ति केवल नरक से बचाती ही नहीं परन्तु स्वर्ग के मार्ग को खोलने में भी एक निश्चित साधन है।

आप कहते हैं कि —

पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥

मनु अ० ६ श्लोक १२७

अर्थात्— पुत्र के जन्म लेने से मनुष्य स्वर्गादि लोकों को पाते हैं और पौत्र के जन्म से स्वर्ग में चिरकाल पर्यन्त अवस्थिति होती है और प्रपौत्र की उत्पत्ति से सूर्यलोक में निवास किया करता है। इस प्रकार मनु जी पुत्र के साथ २ प्रपौत्र को भी स्वर्ग का साधन मानते हैं।

जैन सिद्धान्त इस के सर्वथा विपरीत है। भद्रबाहु संहिता में लिखा है—

पुत्रेण स्यात् पुण्यत्वमपुत्रः पापयुग्भवेत्।
पुत्रश्च तोऽऽदृश्य ते पामरा कणयाचका ॥ ८ ॥

दृणातीर्थंङ्कतोऽपुत्रा पञ्चकल्याणभागिन ।
देवेन्द्रपूज्यपादाब्जा लोकत्रय विलोकिन ॥ ६ ॥

अर्थात्– यदि पुत्र का उत्पत्ति ही पुण्यवानों का लक्षण है तो सकड़ो पुत्रों वालों की दुर्गति होती क्यों दिखाई देती है ? इस क विपरीत पुत्र-रहित तीर्थंकर पाच कल्याण के भागी, त्रिलोकदर्शी और इन्द्रादि स पूजित पाए जाते हैं।

जैन सिद्धान्त के अनुसार पिता के कर्मों का भोक्ता पुत्र नहीं और पुत्र के कर्मों का भोक्ता पिता नहीं हो सकता। दोनों को अपने अपने कर्मों का फल स्वतन्त्र रूप से भोगना पड़ता है। यदि पिता दुश्चरित्र और पापी है और पुत्र सत्क्रियावान् है तो पिता को तो अपने कर्मों का दण्ड अवश्य भोगना पड़ेगा ही। पुत्र अपने शुभ कर्मों का शुभ फल पाएगा। उत्तम से उत्तम पुत्र भी पापी पिता क कर्मों को धोने में कभी समर्थ नहीं हो सकता। पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र भले ही पिता के कल्याण के लिये कितनी क्रियाएं क्यों न करे किन्तु वे मृतात्मा के लिये सब व्यर्थ हैं। जैन शास्त्रों में श्राद्ध क्रिया का कोई महत्व नहीं है। पुत्र ऐहलौकिक आनन्द का कारण बन सकता है, पारलौकिक क्रिया में पिता के लिये वह कोई महत्व नहीं रखता यह जैन दर्शन का मन्तव्य है।

मनु जी ने द्विजमात्र के लिये ब्रह्म यज्ञ, पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, भूत यज्ञ नृयज्ञ ये पांच यज्ञ माने हैं। इन सब का लक्षण करते हुए आप कहते हैं कि –

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञ पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम्॥

मनु अ० ३ श्लो० ७.

प्राचीन समय में मलय देश की राजधानी रत्नपुर में प्रजापति नामक राजा राज्य करता था। उस के पुत्र का नाम चन्द्रचूल था जो कि बड़ा ही दुष्ट और दुश्चरित्र था। रत्नपुर में एक कुबेरदत्त सेठ रहता था जिस ने अपनी कन्या का पाणिग्रहण वहां के एक श्रेष्ठीपुत्र श्रीदत्त के साथ किया। कन्या बड़ी ही रूपवती थी। उस के सौन्दर्य की महिमा चन्द्रचूल के कानों तक पहुची। जबकि विवाह संस्कार हो रहा था तब चन्द्रचूल उस सुन्दरी कन्या को बलपूर्वक हरण करने के लिये लोगों की बड़ी भीड़ में पहुच गया।

राजकुमार के इस दुराचार से लोगों को बड़ा दुःख हुआ। नगर के पञ्च मिलकर राजा के पास गए और राजकुमार की इस नीचता की शिकायत की। राजा न्यायप्रिय था और पक्षपात करना तो जानता ही न था। जब उस ने अपने पुत्र की दुश्चरित्रता की बात सुनी तो उसे उस पर बड़ा क्रोध आया। चन्द्रचूल को राजा के सामने लाया गया। राजा ने उसे देखते ही तुरत आज्ञा दी –

तदालोक्य 'किमित्येष पापीहानीयते द्रुतम्।
निशात शूलमारोप्य श्मशाने स्थाप्यतामिति ॥

अर्थात् – इस पापी को यहां लाने की क्या आवश्यकता है ? इस को तो शीघ्र ही श्मशान घाट में ताखे शूल पर लटका दो।

राजा का मन्त्री बड़ा बुद्धिमान् था। उस ने राजकुमार को दण्ड देने का भार अपने ऊपर ले लिया। वह राजकुमार को जगल में ले गया और वहां जैन मुनियों की सेवा में उसे दीक्षा दिलाई।

यह थी जैन राजाओं की न्याय परायणता और निष्पक्ष दण्ड विधान। न्याय के सिंहासन पर बैठ कर वे पक्षपात नहीं दिखाते थे

दुष्ट को दण्ड देना इस प्रथम धर्म को वे भलीभाँति पालन करते थे। वे दुष्ट दुष्ट में भेद नहीं समझते थे। दुष्ट चाहे प्रजा में उत्पन्न हुआ हो, चाहे राज महल में, दुष्ट तो दुष्ट ही है अतः उस को दण्ड अवश्य मिलना चाहिये और दण्ड भी ऐसा हो कि उस की दुष्टता के अनुकूल हो।

हेमचन्द्राचार्य ने लिखा है कि जो राजा न्याय से [illegible] है। चोर, धूर्त और दुष्टों को दण्ड देता है वह [illegible] है। इस प्रकार इन लोगों के लिये जो जैनधर्म में कहा है [illegible] कल्पना करते हैं और इसी कारण जैनियों को वह [illegible] उपाधियाँ देने का साहस कर बैठते हैं। जैन राजाओं के [illegible] अन्तिम दो पद पर्याप्त उत्तर होगा। किसी भी [illegible] से परिचित हुए बिना उसके ऊपर टीका टिप्पणी करना [illegible] होता है इस की कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

अब अन्त में मैं जैन राजनीति की एक विशेषता और बताना चाहता हूँ। यह विशेषता वैदिक राजनीति में नहीं [illegible]। चक्रवर्ती राजा तो वैदिक और जैन दोनों को [illegible] है। वैदिक धर्म में चक्रवर्ती [illegible] के लिये [illegible] राजसूय यज्ञों का विधान है। जैन शास्त्रों में चक्रवर्ती [illegible] राजसूय और अश्वमेध यज्ञों का विधान नहीं मिलता। [illegible] चक्रवर्तित्व पाने के लिये उसे युद्ध करना पड़ता [illegible] होती है किन्तु जैन धर्म ग्रन्थों में कम से [illegible] उपाय बताए गए हैं। [illegible] और बाहुयुद्ध का विधान है। [illegible] प्रमाण नहीं है जब दो राजाओं में युद्ध होता है [illegible]

सेनाएं एक दूसरे पर टूट पड़ती हैं। कोई वीर राजा हुए तो सेना के साथ २ युद्ध में चले गये। नहीं तो अक्सर सेनाएं ही लड़ा करती हैं और राजा अपने आप को महलों में या किलों में सुरक्षित रखते हैं। इस प्रकार दो व्यक्तियों के राज्य लाभ के लिये लाखों सिपाही युद्धभूमि में अपने जीवन न्यौछावर करते हैं। जैन नीतिज्ञों को यह बात ठीक नहीं लगी। इस कारण उन्होंने बाहुयुद्ध की प्रथा चलाई। बाहुयुद्ध में केवल दो विरोधी राजाओं का ही युद्ध होता था। सेना उसमें भाग नहीं लेती थी। जो राजा जीतता उससे पराजित राजा अधीनता स्वीकार कर लेता। इस तरह सेनाओं के युद्ध से जो लाखों व्यक्तियों का संहार होता वह बच जाता। जैन धर्मग्रन्थों में बाहुयुद्ध के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। कहते हैं कि नेमि महाराज एक बार अचानक ही भगवान् कृष्ण की शस्त्रशाला में चले गए। उन्होंने श्रीकृष्ण जी के चक्र को कुम्हार के चक्र की भांति घुमा दिया। शार्ङ्ग धनुष को मृणाल की तरह, कौमोद की गदा को लाठी की तरह उठा डाला और पाञ्चजन्य शंख को खूब जोर से बजाया। शंख ध्वनि को सुन कर कृष्ण जी को किसी शत्रु के आने का सन्देह हुआ और वह तुरन्त ही शस्त्रशाला में आ गए। वहां उन्होंने नेमि महाराज को खड़े पाया। दोनों ने बल परीक्षा के लिये बाहुयुद्ध को ही उचित समझा और फिर दोनों का बाहुयुद्ध हुआ।

इसी प्रकार भरत और बाहुबलि का युद्ध भी बहुत प्रसिद्ध है। पहले दोनों की सेनाएं लड़ने को उद्यत थीं किन्तु दोनों के प्रधानमन्त्रियों ने सेनाओं के युद्ध में बहुत जन संहार देखकर यही निश्चय किया कि दोनों का बाहुयुद्ध हो और अन्त में हुआ भी यही।

इस प्रकार जैनराजनीति में युद्ध के विधान में 'अहिंसा परमो-

धम" इस निद्ध न का न न ऊचा स्थान है। इस छोटे से लेख में पाठकों को भल भांति पता चल गया होगा कि जैन धम वास्तव में क्या धम है। जो ल ग स्म स श्र यथा कल्पना करते हैं वे जैनधर्म व मम से अनभिज्ञ हैं। उन को चाहिये कि वे जैन शास्त्रों का अध्ययन करके इस के महत्व को समझें। इस के साथ २ मैं जैन कुलोत्पन्न सज्जनों से भी निवेदन करना चाहता हू कि वे नाममात्र के जैन होने में ही गौरव न समझें। उन को अपनी प्राचीन संस्कृति और प्राचीन गौरव को कभी न भुलाना चाहिये। यदि वे अपने पूर्वजों के निर्माण पथ पर चलेंगे तभी वास्तव में सच्चे जैन कहलाने के योग्य बन सकेंगे।



जैन धर्म मे वर्णव्यवस्था

जैसा कि पहिले भी बता चुके है वैदिक, जैन और बौद्ध ये तीनों धर्म अति प्राचीन काल से साथ साथ चले आए हैं अत तीनों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता रहा है। तीनों धर्मों के अनुयायी एक दूसरे के सिद्धान्तों का समय २ पर अपनाते रहे हैं। और एक दूसरे स प्रभावित होते रहे हैं। निस्सन्देह तीनों का जीवन चिरकाल से पारस्परिक सघर्षमय चलता रहा है। और प्रत्येक ने अपने अपने सिद्धान्ता को ही एक मात्र कल्याण का साधन माना है किन्तु यह सघर्ष ऐसा ही था जैसा कि तीन सहोदर भाइयों का होता है। तीनों धर्मों के धर्म ग्रन्थों का यदि सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ा जाय तो उसके निचोड़ में अति प्राचीन भारतीय सभ्यता की एक ही झलक दृष्टिगोचर होती है। तीनों धर्मों की गहराई में एक ही संस्कृति छिपी मिलती है। ठीक इसी प्रकार जैसे तीन सहोदर भाइयों में पारस्परिक मतभेद के होने पर भी मातृस्नेह का स्रोत समान रूप से ही बहा करता है। अतएव वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों में किसी एक के सिद्धान्त पर उसी के दृष्टिकोण से विवेचन करना या कोई निर्णय देना उस मन्तव्य के साथ अन्याय करना होगा। किसी भी विषय का विश्लेषण तीनों धर्मों के सिद्धान्त का ध्यान में रखते हुए तुलनात्मक दृष्टि से ही करना चाहिये। ऐसा करने से ही वह सुन्दर और निर्णयात्मक हो सकता है। अतएव जैन धर्म में वर्णव्यवस्था के विश्लेषण के साथ साथ वैदिक और बौद्ध धर्मों

में वर्णव्यवस्था की परिपाटी का दिग्दर्शन नितान्त आवश्यक हो जाता है। तीनों धर्मों की साथ साथ प्रगति होने के कारण तीनों ने जो एक दूसरे की सामाजिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव डाला है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सामाजिक धार्मिक और राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

॥ वैदिक वर्ण व्यवस्था ॥

चारों वेदों में सब से प्राचीन ऋग्वेद माना जाता है। इस वेद में दस मंडल हैं। प्रथम नौ मण्डलों में कहीं भी वर्ण व्यवस्था का विधान नहीं पाया जाता। दशम मंडल में वर्णव्यवस्था का विधान मिलता है जो इस प्रकार है —

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

इस मंत्र में ब्राह्मण की मुख से, क्षत्रिय की भुजाओं से, वैश्य की उरू से और शूद्र की पैरों से तुलना या उत्पत्ति ध्यान देने योग्य है।

इस मंत्र के आधार पर बहुत से विद्वानों ने वैदिक काल में जन्मगत वर्णव्यवस्था सिद्ध करने की कोशिश की है किन्तु भाषा विज्ञान के पण्डितों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ऋग्वेद के दशम मंडल की रचना प्रथम नौ मण्डलों के बहुत बाद की है। दशम मंडल की भाषा से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि उसकी भाषा प्रथम नौ मंडलों की भाषा से भिन्न प्रकार की है। अतः ऋग्वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था का अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

॥ वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ ॥

वर्ण शब्द का अर्थ है रंग (complexion)। भारतीय आर्य लोगों का रंग गोरा और सुन्दर होता था। कृष्ण या काले वर्ण के द्राविड़ आदि जातियों के लोग भी भारत भूमि में बसते थे। आर्य जाति का काले रंग की जातियों से कुछ काल तक संघर्ष भी रहा। ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यों ने उन कृष्ण वर्ण जाति के लोगों से जिन्हें वे अनार्य या दस्यु कह कर पुकारते थे अपनी उत्कृष्टता की भिन्नता प्रकट करने के लिये ही वर्ण शब्द का प्रयोग प्रारम्भ किया होगा। बाद में जैसा कि ऋग्वेद के दशम मंडल में मिलता है समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार भागों में विभक्त कर दिया। प्रारम्भ में यह वर्ण व्यवस्था कर्म गत थी जन्म गत नहीं। कोई भी पुरुष अपने उच्च या नीच कर्मों से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बन सकता था। यही कारण है कि वैदिक धर्म के प्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र वशिष्ठ और दीर्घतमा आदि अब्राह्मण होते हुए भी अपने उत्कृष्ट कर्मों से ब्राह्मण पद को प्राप्त हुए। मनु जी महाराज भी इसी सत्य की पुष्टि करते हैं —

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

मनु १०/६५/

अर्थात् जिस प्रकार शूद्र ब्राह्मण बन जाता है और ब्राह्मण शूद्र बन जाता है उसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के विषय में भी जानना चाहिये।

कुछ काल के पश्चात् वर्ण के स्थान में जाति शब्द का भी प्रयोग होने लगा। वैदिक साहित्य में सर्व प्रथम यह शब्द कात्यायन

श्रौत सूत्रमें मिलता है। उसमें इसका प्रयोग वर्ण के अर्थ में नहीं किया किन्तु परिवार या कुल के अर्थ में मिलता है। परन्तु जैसे २ वर्ण व्यवस्था जन्म सिद्ध अधिकारों में परिणत होती गई वैसे २ वर्ण के स्थान में जाति शब्द का प्रयोग विशेष रूप से होने लगा। अन्त में जाति शब्द का प्रयोग इतना अधिक प्रचलित हो गया कि वर्ण शब्द उसके सामने लुप्त सा हो गया। आज कल भी हमारे देश में प्रायः जाति शब्द का ही प्रयोग होता है। ब्राह्मण वर्ण, क्षत्रिय वर्ण, वैश्य वर्ण और शूद्र वर्ण के स्थान में ब्राह्मण जाति क्षत्रिय जाति, वैश्य जाति और शूद्र जाति का प्रयोग करते हैं।

॥ अनेक जातियों की उत्पत्ति ॥

प्रारम्भ में जब वर्ण व्यवस्था का युग शुरू हुआ तो चार ही वर्ण थे। आज की भाषा में चार जातियें थीं। इन्हीं चार जातियों में से आज की सैंकड़ों जातियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई इसका पता बहुत कुछ मनुस्मृतिसे चल जाता है। मनु जी की राजनीति के अनुसार ब्राह्मण को तो चारों वर्णों की कन्याओं के साथ विवाह करने का अधिकार है और बाकी के वर्ण या जातियें अपने से नीचे किसी भी वर्ण की कन्या के साथ विवाह सम्बन्ध कर सकती हैं किन्तु अपने से उच्च वर्ण के साथ नहीं।

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वाचैव राज्ञश्च ताश्च स्वाचाग्रजन्मन ॥

मनु० अ० ३ श्लोक १३

अर्थात् – शूद्रा ही शूद्र की स्त्री हो सकती है दूसरी नहीं। वैश्य को

शूद्रा में निषाद द्वारा उत्पन्न पुत्र "पुक्कस" तथा शूद्र से निषा क या में जायमान पुत्र कुक्कुट कहे जाते हैं ॥१८॥

क्षत्ता द्वारा उग्र कन्या में जन्मा हुआ पुत्र "श्वपाक" कहा जाता है। वैदेह से अम्बष्ठ नाम्नी कन्या में उत्पन्न पुत्र वेण कहलाता है ॥ १६ ॥

द्विजाति की सवर्णा कन्याओं में उत्पन्न पुत्रों का यदि यज्ञोपवीत संस्कार न हो तो वे "व्रात्य" कहे जाते हैं ॥ २० ॥

व्रात्य संतान से पापात्मा 'भूज्रकण्टक" पुत्र जन्मता है। देश भेद से इसी को आवन्त्य', 'वाटधान', पुष्पध 'तथा "शैव" भी कहते हैं ॥ २१ ॥

क्षत्रिय जाति की व्रात्य से उत्पन्न पुत्र, झल्ल, मल्ल, निच्छिवि, नट, करण, खस तथा द्रविड़ कहलाते हैं ॥ २२ ॥

आजकल उपलब्ध सूत, आभीर निषाद और शैव आदि अनेक जातियों की उत्पत्ति चारों वर्णों के अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धों से किस प्रकार होती गई यह मनु जी की राजनैतिक व्यवस्था से पाठकों को भली भाँति स्पष्ट हो गया होगा।

इस के अतिरिक्त लोगों के भिन्न भिन्न पेशे या व्यवसाय भी अनेक नवीन जातियों की उत्पत्ति में नवीन कारण बने। जैसे सोने का काम करने वाले स्वर्णकार या सुनार, लोहे का काम करने वाले लोहकार या लुहार, चमड़े का काम करने वाले चर्मकार या चमार वस्त्र धोने का काम करने वाले धोबी, क्षौरकर्म करने वाले नापित या नाई तेल निकालने वाले तेली वस्त्र बुनने का काम करने वाले तन्तुवाय या जुलाहे इत्यादि अनेक जातियों के नाम उनके कर्म या व्यवसाय के आधार पर पड़े।

इस प्रकार वैदिक सिद्धान्त के अनुसार भारत में अनेक जातियों की उत्पत्ति होती गई। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि ऋग्वैदिक काल में तो वर्णव्यवस्था कर्म से ही मानी जाती थी जन्म से नहीं। इसी सत्य का पुष्ट करने वाला एक श्लोक शुक्रनीति में भी आता है –

विश्वामित्रो वशिष्ठश्च मतंगो नारदाश्च ।
तपोविशेषसंप्राप्ता उत्तमत्व न जातित ॥

अर्थात् – विश्वामित्र, वशिष्ठ, मतंग, और नारदादि ऋषि तप के प्रभाव से उत्तम पद को प्राप्त हुए जातिसे नहीं। "बाल्मीकि रामायण" के कर्ता महर्षि बाल्मीकि के विषय में तो सब जानते हैं कि वह किस प्रकार नीच जाति में उत्पन्न हो कर भी राम की महिमा से कितने उच्च पद को प्राप्त हुए। चक्रवर्ती महाराज की महारानी सीता को भी उन्होंने अपने आश्रम में आश्रय दिया था।

विस्तार भय से इस लेख को अधिक न बढ़ाते हुए अन्त में मैं यही बताना चाहता हूं कि वैदिककाल में वर्णव्यवस्था कर्म से ही मानी जाती थी। उपर्युक्त विवरण से पाठकों को इस सत्य का भलीभाँति पता चल गया होगा। आज कल की जन्मगत वर्णव्यवस्था की भयानकता ऋग्वैदिक काल में न थी। इस का प्रचार बाद में हुआ और यहां तक बढ़ाकि नीच से नीच काम करने वाला पुरुष यदि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ होता वह जाति की श्रेष्ठता की डींग हांकने में कोई कसर बाकी नहीं रखता। शूद्र जाति में पैदा हुआ पुरुष उत्तमसे उत्तम आचरण करने पर भी नीच माना जाता है। बहुत से अज्ञानी पुरुष तो शूद्र की छाया पड़ने पर भी अपने आप को अपवित्र मानने लगते हैं। इस को मूर्खता की पराकाष्ठा ही कहा जा सकता है। यह सभी है

साधुओं की बात जाने दीजिए श्रावक तक लोगों में से जाति मूढता अथवा जाति या कुल मद को दूर करने के साधु प्रयत्न करते थे। रास्ता चलते एक श्रावक का समागम कुछ ब्राह्मणों से हो गया ब्राह्मण अपने जाति मद में मत्त थे किन्तु श्रावक के युक्ति पूर्ण वचनों से उनका वह नशा काफूर होगया। वे जान गए कि मनुष्य के शरीर में वर्ण आकृति के भेद देखने में नहीं आते हैं; जिससे वर्ण भेद हो। क्योंकि ब्राह्मण आदि का शूद्रादि के साथ भी गर्भाधान देखने में आता है। जैसे गौ घोड़े आदि की जाति का भेद पशुओं में है ऐसा जाति भेद मनुष्यों में नहीं है क्योंकि यदि आकार भेद होता तो ऐसा भेद होना सभव था अत मनुष्य जाति एक है। उसमें जाति अथवा कुल का अभिमान करना वृथा है। एक उच्चवर्णी ब्राह्मण भी गोमांस खाने और वेश्यागमन करने से पतित हो सकता है और एक नीच गोत्र का मनुष्य अपने अच्छे आचरण द्वारा ब्राह्मण के गुणों को पा सकता है।

भगवान् महावीर के दिव्य देशों में मनुष्य मात्र के लिए व्यक्ति स्वातंत्र्य का मूल मन्त्र गर्भित था। भगवान् ने प्रत्येक मनुष्य का आचरण उसके नीच अथवा ऊंचपने का मूल कारण माना था उन्होंने स्पष्ट कहा कि सतान कम से चले आए हुए जीव के आचरण की गोत्र सज्ञा है। जिसका ऊचा आचरण है उसका ऊँच गोत्र है और जिसका नीच आचरण है उसका नीच गोत्र है। शूद्र हो या स्त्री हो अथवा चाहे जो हो गुण का पात्र है वही पूजनीय है। देह या कुल की वदना नहीं होती और ना ही जातियुक्त को ही मान्यता प्राप्त है। गुणहीन को कौन पूजे और माने? श्रमण भी गुणों से होता है श्रावक भी गुणों से होता है। महावीर जी के इस संदेश से जनता की मनमानी मुराद पूरी हुई और वह अपने

जाति अथवा कुलमद को भूल गई थी।

तब भारत में विश्व प्रेम की पुण्य धारा का अटूट प्रवाह बहा। जनता गुणों की उपासक बन गई। ब्राह्मण, क्षत्रिय शूद्र और वैश्यत्व का उसे अभिमान ही शेष न रहा। सब ही गुणों को पाकर श्रेष्ठ बनने की कोशिश करते थे। धन्यकुमार सेठ को ही देखिए। उनके गुणों का आदर करके सम्राट् श्रेणिक ने अपनी पुत्री का विवाह उनसे कर दिया था और उन्हें राज्य देकर अपने समान राज्याधिकारी बना दिया था। यही बात इनसे पहले हुए सेठ भविष्यदत्त के विषय में घटित हुई थी। वह वैश्य पुत्र होकर भी राज्याधिकारी हुए थे। हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर उन्होंने प्रजा का पालन समुचित रीति से किया था। सेठ प्रीतिकर को क्षत्री राजा जयसेन ने आधा राज्य देकर राजा बनाया था। सारांश स्वतन्त्र अन्वेषण के आधार से विद्वानों को यही कहना पड़ा है कि उस समय ऊपर के तीन वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) तो वास्तव में मूल में एक ही थे। क्योंकि राजा, सरदार और विप्रादि तीसरे वैश्य वर्ण के ही सदस्य थे जिन्होंने अपने को उच्च सामाजिक पदपर स्थापित कर लिया था वस्तुतः ऐसे परिवर्तन होने जरा कठिन थे, परन्तु ऐसे परिवर्तनों का होना सम्भव था। गरीब मनुष्य राजा, सरदार बन सकते थे। ऐसे परिवर्तनों के अनेक उदाहरण ग्रन्थों में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों के क्रिया काण्ड युक्त एवं सर्व प्रकार की सामाजिक परिस्थिति के पुरुष स्त्रियों के परस्पर सम्बन्ध के भी उदाहरण मिलते हैं और वह केवल उच्चवर्णों के ही पुरुष और नीच कन्याओं के सम्बन्ध में नहीं हैं बल्कि नीच पुरुष और ऊँच स्त्रियों के भी हैं।

नीचे दिया उद्धरण भी इस सत्य का पोषक है

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगतावरम् ।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमोनास्ति स्वयंवरे॥

अर्थात्—स्वयंवर में गई हुई कन्या अपनी रुचि के अनुसार पुरुष का वरण करती है। वहां कुलीन और अकुलीन का विचार नहीं किया जाता है। सच मुच उस समय विवाह क्षेत्र अति विशाल था। चारों वर्णों के स्त्री पुरुष सानन्द परस्पर विवाह सम्बन्ध करते थे। इतना ही क्यों, म्लेच्छ और वेश्याओं आदि से भी विवाह होते थे। राजा श्रेणिक ने ब्राह्मणी से विवाह किया था। जिसके उदर से मोक्षगामी अभयकुमार नामक पुत्र जन्मा था। वैश्य पुत्र जीवंधर कुमार ने क्षत्रिय विद्याधर गरुड़ वेग की कन्या गन्धर्वदत्ता का स्वयंवर में वीणा बजा कर पराजित किया और विवाहा था। स्वयंवर में कुलीन अकुलीन का भेद भाव नहीं था। विदेह देश के धरणी तिलका नगर के राजा गोविन्द की कन्या के स्वयंवर में अपर तीन वर्णों वाले पुरुष आये थे। जीवंधर कुमार के ये मामा थे। जीवंधर ने चन्द्रक यन्त्र को वेध कर अपने मामा की कन्या के साथ पाणिग्रहण किया था। पल्लव देश के राजा की कन्या का सर्प विष दूर करके उसे भी जीवंधर ने ब्याहा था। वणिक पुत्र प्रीतंकर का विवाह राजा जयसेन की पुत्री के साथ हुआ था। विवाह सम्बन्ध करने में जिस प्रकार वर्ण भेद का ध्यान नहीं रखा जाता था वैसे ही धर्म विरोध भी उसमें बाधक नहीं था। वसुमित्र श्रेष्ठी जैन थे किन्तु उन की पत्नी धन श्री अजैन थी। साकेत का मिगार सेठी जैन था किन्तु उसके पुत्र पुण्यवर्धन का विवाह बौद्धधर्मानुयायी सेठ धनंजय की पुत्री विशाखा से हुआ था। सम्राट् श्रेणिक के पिता उपश्रेणिक ने अपना विवाह एक भील कन्या से किया था।

भगवान् महावीर के निर्वाणोपरान्त नंदराजा महानन्दिन

जैन थे। "इनकी रानियों म से एक शूग भी थी जिससे महापद्म का जन्म हुआ था। चम्पा के श्रेष्ठी पालित थे। उन्होंने एक विदेशी कन्या से विवाह किया था। प्रातकर सेठ जब विदेश में धनोपार्जन के लिये गए थे तो वहां से एक रात्रक या को ले आए थे जिसके साथ उनका विवाह हुआ था। इस काल के पहले से ही प्रतिष्ठित जैन पुरुष जैसे चारुदत्त अथवा नागकुमार के विवाह वेश्या पुत्रियों से हुए थे। सरांशत, उस समय विवाह सम्बन्ध करने के लिए कोई बन्धन नहीं था। सुशील और गुणवाली कन्या के साथ उसके उपयुक्त वर विवाह कर सकता था। स्वयंवर की प्रथा के अनुसार विवाह को उत्तम समझा जाता था।"

इसके अतिरिक्त उत्तराध्ययन के २५ वें अध्ययन की महामुनि की कथा किस जैन श्रावक से भूली है। ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ एक जयघोष नामका याज्ञिक ब्राह्मण था। उस समय एक ब्रह्मचारी महामुनि भ्रमण करते करते २ वाराणसी नगरी में पहुचे और बाहिर एक उद्यान में ठहर गए। उस समय उस पुरी में विजयघोष नामका वेदपारगत ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। उस यज्ञ में वह मुनि भिक्षा के लिये गया। उस साधु को देखते ही याज्ञिक ने भिक्षा देने से इन्कार कर दिया और कहा कि जो वेदपारगत, याज्ञिक और ज्योति शास्त्र का जानने वाले ब्राह्मण हैं उन्हीं को यहां से भिक्षा मिल सकती है। वह महामुनि इस प्रकार का उत्तर पाकर न क्रुद्ध ही हुआ और न प्रसन्न हो। उस ने कहा कि तुम वेद, यज्ञ, धर्म और परमात्म तत्व को समझते ही नहीं हो। यदि जानते होतो बताओ। वह याज्ञिक ब्राह्मण मुनि के प्रश्नका उत्तर देने में असमर्थ था। उसने हाथ जोड़ कर कहा महामुनि! वेद, यज्ञ धर्म और परमात्म तत्व को मुझे बताओ।' परमात्मपद को किस

प्रकार पाया जा सकता है? यह बताकर मेरा संशय दूर करो। परमात्मतत्व का वर्णन करते हुए महामुनि ने कहा —

> नवि मुण्डिएण समणो, न ओंकारेण बम्भणो।
> न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥३१॥
> समयाए समणो होइ, बम्भचेरेण बम्भणो।
> नाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो ॥३२॥
> कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो।
> वईसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवई कम्मुणा ॥३३॥

अर्थात् —

कोई मनुष्य पुरुष सर मुड़ाने से श्रमण नहीं बन सकता। ओंकार के जापमात्र से ब्राह्मण नहीं बन सकता। जङ्गल में वास करने से मुनि नहीं बन सकता और न ही कुश चीर धारण से तपस्वी ही बन सकता है।

समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या करने से ही मुनि बना जा सकता है। ब्राह्मण का काम करने से मनुष्य ब्राह्मण बन जाता है। क्षत्रिय का काम करने से क्षत्रिय, वैश्य का काम करने से वैश्य और शूद्र का काम करने से ही शूद्र बनता है।

महामुनि ने कहा कि इस प्रकार उत्तम गुणों से युक्त जो वास्तव में द्विजोत्तम हैं वे ही परमात्म तत्व को समझते हैं।

इसी प्रकार की कथा उत्तराध्ययन सूत्र के १२वें अध्ययन में भी आती है। यह कथा हरिकेशी मुनि की है। हरिकेशी मुनि का जन्म एक चाण्डाल कुल में हुआ था। तपस्या के प्रभाव से वे एक

प्रसिद्ध महर्षि बने। वे भी महामुनि की तरह जब भिक्षा के लिए यज्ञ मण्डप में गए तो याज्ञिकों ने उनका तिरस्कार किया और भिक्षा देने से इन्कार कर दिया। याज्ञिकों की दृष्टि में वे भिक्षा के पात्र ही न थे। उनकी दृष्टि में यज्ञ मण्डप के भिक्षा पात्र बनने के लिये ब्राह्मण कुल में जन्म लेना परमावश्यक था। जब हरिकेशी मुनि ने भिक्षापात्र का वास्तविक स्वरूप बताया तो वह उन्हें कटु लगा। और शक्ति में मत्त वे महामुनि को मारने लगे। तत्काल यक्ष ने मुनि की रक्षा की और मारने वालों को उचित दण्ड दिया। इस प्रकार मुनि के तपस्तेज का चमत्कार देखकर सब लोग हैरान रह गए और कहा —

सक्खं खु दीसई तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्त हरिएस साहु, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥३७॥

अर्थात् —

तप की विशेषता साक्षात् दिखाई देती है और जाति की विशेषता कहीं दिखाई नहीं देती। और चाण्डाल का पुत्र होकर भी हरिकेशी मुनि तपश्चर्या के प्रभाव से इतनी बड़ी ऋद्धि को प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार जैन शास्त्रों में जहां भी वर्ण व्यवस्था का प्रकरण आता है। वहां वर्ण व्यवस्था कर्म से ही मानी गई है। जन्म को कोई महत्व नहीं दिया जाता। निस्सन्देह उत्तम कुल में उत्पन्न होना आज की तरह अच्छी दृष्टि से देखा जाता था किन्तु समाज में आदर पाने के लिए उत्तम कुल में जन्म के साथ २ उत्तम गुणों का होना भी जैन समाज में परमावश्यक था।
व्यवस्था की मर्यादा को जैन धर्म के आदि तीर्थंकर

स्वामी ने बोधा था और उनके प्रवचन को अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी तक- होरे तथवर आविछिन्न रूप से मानते और प्रचार करते रहे हैं। इसी सत्य का पुष्टि "जैन विद्या नामक पत्र में भगवान् महावीर स्वामी क जीवन पर लिखे लेख में जैन विद्वान् मुनि श्री कवि अमर चन्द जी "अमर" ने भी की है।

आप लिखते हैं —

"तत्कालीन शूद्र जातियों को भी भगवान् के द्वारा बड़ा सहारा प्राप्त हुआ। भगवान् जहां भी गए वहा सर्व प्रथम एक ही सदेश ले गए कि मनुष्य जाति एक है उसमें जातपात की दृष्टि से विभाग की कल्पना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं। ऊच नीच के सम्बन्ध में भगवान् के विचार कर्म मूलक थे, जाति मूलक नहीं। भगवान् आज के उपदेशकों क समान मात्र उपदेश देकर ही रह गए हों यह बात नहीं। हरिकेशी जैसे चाण्डालों को अपने भिक्षु सघ में सम्मानपूर्ण अधिकार देकर उन्होंने जो कुछ कहा वह करके भी दिखा दिया। आगम साहित्य में एक उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जहां भगवान् किसी राजा महाराजा अथवा ब्राह्मण क्षत्रिय के महलों में विराजे हों। हां पालासपुर में शब्दाल कुम्हार के यहा विराजना उनकी पतित बन्धुता का वह उज्ज्वल आदर्श है जो कोटि कोटि वर्षों तक अजर अमर रह कर संसार को समभाव का पाठ पढ़ाता रहेगा।"

इस प्रकार शास्त्रीय ऐतिहासिक तथा अन्य प्रमाणों से पाठकों को यह भलीभांति पता चल गया होगा कि अनादिकाल से जैन धर्म में वर्णव्यवस्था की मर्यादा कर्म मूलक ही रही है। जन्म मूलक नहीं। आजकल कार्यरूप में जो ज न्म मूलक बनी हुई है यह

इतर धर्मों का इस पर प्रभाव है। जैन समाज को चाहिए कि वह अपने उच्च सिद्धान्तों को कभी न भूले।

॥ बौद्धों में वर्णव्यवस्था ॥

बौद्ध जातकों में (वण्ण) अर्थात् वर्ण शब्द तो आता है किन्तु उसका प्रयोग जाति के अर्थ में नहीं हुआ गया। "वण्ण" इस शब्द से बौद्ध काल में वर्णव्यवस्था का अस्तित्व था ऐसा प्रतीत होता है किन्तु बौद्धों की वर्णव्यवस्था भी जैनों की तरह कर्ममूलक थी जन्म मूलक नहीं। कोई भी मनुष्य कर्म से उत्तम वर्ण का बन सकता था। बौद्धधर्म में सब से उत्तम वर्ण क्षत्रिय का और फिर क्रमेण ब्राह्मण वैश्य और शूद्र का माना जाता है। इस व्यवस्था में भी बौद्धधर्म जैनधर्म से बिल्कुल समानता रखता है। जैनधर्म में भी वास्तव में उत्तम वर्ण क्षत्रिय का माना है। लघ्वर्हन्नीति आदि राजनैतिक तथा अन्य अनेक जैन ग्रन्थों में यद्यपि वर्ण व्यवस्था का क्रम ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र ही दिया है जिससे वैदिक वर्णव्यवस्था की पुष्टि होती है किन्तु आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभ स्वामी का मन्तव्य जिन्होंने सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुयायियों को मर्यादा का पाठ पढ़ाया इस सिद्धान्त को घोषित नहीं करता। आदिपुराण में लिखा है कि क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णों की व्यवस्था भगवान् ने और ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था ऋषभ देव के पुत्र भरत ने की थी। जिस प्रकार ऋग्वेद में ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्, इत्यादि मंत्र से कहा है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण भुजाओं से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए, इसी प्रकार की इन चार वर्णों की उत्पत्ति जैन [illegible] भी बताई गई है। आदिपुराण में लिखा है कि

में तलवार लेकर क्षत्रिय वर्ण की, उरु से चलने का संकेत करते हुए वैश्यवर्ण की और चरणों से शूद्रों की उत्पत्ति की। ऋषभ देव के पुत्र सम्राट् भरत ने शास्त्र पढ़ाते हुए मुख से ब्राह्मणों को पैदा किया।

इस के अतिरिक्त कल्पसूत्र में जो महावीर स्वामी का जीवन चरित्र दिया गया है उससे भी जैन धर्म में क्षत्रिय की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। भगवान् महावीर स्वामी पहिले देवानन्दा ब्राह्मणी के गर्भ में आए। तब देवताओं ने सोचा कि सारे तीर्थंकर क्षत्रिय के उत्तम कुल में जन्म लेते आए हैं अतः यह अच्छा नहीं हुआ कि भगवान् महावीर स्वामी को ब्राह्मण के कुल में जन्म लेना पड़ेगा। देवताओं ने हरिनैगमेशी देवता को गर्भ परिवर्तन का कार्य सौंपा। अन्त में हरिनैगमेशी देवता ने देवानन्दा ब्राह्मणी से उस गर्भ का अपहरण किया और त्रिशला क्षत्राणी की कोख में उस गर्भ को स्थापना की। कुछ विद्वानों ने इस गर्भ परिवर्तन को असम्भव माना है और कुछ ने रज से वीर्य की प्रधानता मान कर भगवान् महावीर को ब्राह्मण बताया है किन्तु यहाँ हमें इन बातों से कोई मतलब नहीं। यहां केवल इस घटना का उल्लेख करने का यही अभिप्राय है कि जैन धर्म में भी बौद्ध धर्म की तरह क्षत्रिय जाति को ऊंचा माना गया है। जैनधर्म क्योंकि बौद्धधर्म से प्राचीन है अतः सम्भव है कि वर्णव्यवस्था की इस मर्यादा को बौद्धों ने जैनधर्म से अपनाया हो।

अस्तु, बौद्ध जातकों में यत्र तत्र ऐसे कई कथानक मिलते हैं जिन से बौद्धधर्म का कर्मगत वर्णव्यवस्था को मानना सिद्ध होता है। एक कथा में एक क्षत्रिय राजकुमार किसी सुन्दरी के प्रेम में फस कर कुम्हार और रसोइये आदि के काम को भी करने लगता है। इस

प्रकार एक राजकुमार अपनी बहिन के लिये राज त्याग कर वैश्य बन जाता है।

पाश्चात्य विद्वान् राइस डेविड्स अपनी 'बौद्ध भारत' Buddhist India नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"प्रायः सभी सामाजिक महत्व के श्रेणियों में स्त्री पुरुषों के पारस्परिक विवाहों के अनेक उदाहरण पुरोहितों के धर्मग्रन्थों में भी पाए जाते हैं। केवल यही नहीं किन्तु उच्च वर्णों के पुरुषों का नीच वर्ण की स्त्रियों से विवाह और नीचवर्ण के पुरुषों का ऊँचे वर्ण की कन्याओं के साथ विवाह इस के अनेक उदाहरण पाए जाते हैं।"

बहुत से विद्वानों का तो कथन है कि जन्मगत वर्णव्यवस्था के विरुद्ध महात्मा बुद्ध ने जो आवाज उठाई थी उसी के परिणामस्वरूप बौद्ध धर्म विश्व में व्यापक रूप से फैला। महात्मा बुद्ध के जन्म के पूर्व काल में जन्मगत वर्णव्यवस्था बहुत भयानक रूप धारण किये हुए थी। उस समय भारतीय समाज में ब्राह्मण ही सर्वेसर्वा थे। उन्होंने जन्मगत वर्ण व्यवस्था का प्रचार करके समाज में अनुचित लाभ उठाया, और अपना स्वार्थ सिद्ध किया। उन्होंने जन्मगत वर्णव्यवस्था की स्थापना करके चारों वर्णों के लिये पृथक् पृथक् कानूनों की रचना की जिनमें अपने लिये अनुचित दया की व्यवस्था की और छोटी जातियों के लिये अनुचित कठोरता की व्यवस्था दी। शूद्र जाति को अत्यावश्यक शिक्षा आदि अनेक जीवन की सुविधाओं से वञ्चित किया। ब्राह्मण वर्ग के लोग उस समय अपने उच्च आचरण से पतित होने लग गए थे और मानवता को भूल गए थे। ऐसे युग में महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ। महात्मा बुद्ध ने अन्धविश्वास, अत्याचार और अन्याय का पूर्णशक्ति से विरोध किया और लोगों का कल्याण किया। इस मत का पुष्ट कर

हए सुयोग्य वैदिक विद्वान् प० गंगाप्रसाद जी एम ए अपनी 'धर्म का आदि स्रोत' नामक पुस्तक के ३६ पृष्ठ पर लिखते हैं —

"बुद्ध के प्रादुर्भाव से कुछ पूर्व वैदिकधर्म के इतिहास में घोर अन्धकार का समय था। वेद और उपनिषदों का पवित्र और प्रशस्त धर्म अवनत होकर निरर्थक कृत्य और हिंसापूर्ण 'यज्ञादि' का स्वरूप ग्रहण कर चुका था। वैदिक वर्णव्यवस्था जो आरम्भ में गुणकर्मानुसार थी बिगड़ कर वंश परम्परागत जातिभेद में परिवर्तित हो गई थी। इस का यह परिणाम हुआ कि ब्राह्मण लोगों ने केवल 'जन्म से' अपनेको बड़ा मान कर वेदाध्ययन तथा उन सद्ग्रन्थों को त्याग दिया जिनके कारण उनके पूर्वजों का समुचित प्रतिष्ठा की जाती थी। यह सदाचारिक और धार्मिक अधः पतन केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित न रह सका। सन्यासी लोग भी धार्मिक-ज्ञान आन्तरिक पवित्रता, मधुरशीलता आदि बातें छोड़ कर तपस्या का केवल बाहरी आडम्बर दिखलाने को रखते थे। साधारण लोग भी वैसे सीधे, सच्चे, पवित्र और सद्गुण सम्पन्न न रहे जैसे कि वैदिक काल में थे। वे लकीर के फकीर और विलास प्रियता के चेले बन गए। प्राचीन आर्यों के सात्विक भोजन का स्थान आमिषाहार ने छीन लिया। उस शास्त्रोक्त सिद्ध करने के अभिप्राय से यज्ञों में पशुओं का वध किया जाता था और उनके मांस से आहुति दी जाती थी।

बुद्ध के प्रादुर्भाव के समय वैदिकधर्म या यों कहिये कि आर्यों की सामाजिक-स्थिति इस प्रकार की हो गई थी। बुद्धदेव के हृदय पर पशुबलि दान और जातिभेद इन दो बुराइयों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन का कोमल और प्रेम-पूर्ण हृदय धर्म के नाम पर इतने निरपराध पशुओं के रक्त प्रवाह को न सह सका। उनका पवित्र आत्मा इस

निकृष्ट और अन्यायपूर्ण जातिभेद के विरुद्ध संग्राम करने को उद्यत हो गया। और इसमें उन्होंने मनुष्यमात्र के लिये सच्चा प्रेम और उनके उद्धार के लिये विशेष उत्साह दिखाया। वस्तुतः यह बुराई इतनी अधिक हो गई थी कि बुद्ध भगवान् के पूर्ववर्ती अनेक प्रचारकों ने भी उसे बुरा कहा था। सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सब बातोंमें इस जातिभेद की व्यापकता हो गई थी। यहां तक कि देश के कानून पर भी उस का प्रभाव पड़ चुका था। उस समय ब्राह्मणों, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के लिये पृथक् पृथक् कानून बन गए थे। ब्राह्मणों के ऊपर अनुचित दया और शूद्रों के साथ अनुचित कठोरता का व्यवहार किया जाता था। ये बातें बहुत दिनों तक नहीं ठहर सकती थीं। शूद्र कितने ही धार्मिक और गुणवान् क्यों न हों परन्तु न तो उन्हें धार्मिक शिक्षा देने का ही कहीं प्रबन्ध था और न उनकी समाज में ही कुछ प्रतिष्ठा थी। वे लोग इन बेड़ियों को तोड़ फेंकने के अवसर की ताक में बैठे थे। वे इस निन्द्य प्रथा के पंजे में ऐसे फंसे थे, जिस ने उन्हें उच्च सोसाइटी के संसर्ग से बुरी तरह बहिष्कृत कर रक्खा था। उनकी लालसा थी कि इस स्थिति में परिवर्तन हो। द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों में भी ऐसे अनेक उदाशय उदारप्रकृति पुरुष थे जो उनकी इस लालसा से सहानुभूति रखते थे। अतएव 'क्रान्ति' का समय आगया था और इस विचार के लिये असाधारण दूरदर्शिता की आवश्यकता न थी कि समय आवेगा जब लोग इस हानिकर प्रथा के विरुद्ध युद्ध मचा कर अपनी बेड़ियों को तोड़ डालेंगे। वह अवसर आगया। राजकुलोत्पन्न एक क्षत्रिय ने घोषणा की कि समाज में मनुष्य की स्थिति जन्मसे नहीं प्रत्युत गुणों से होती है। असंख्य मनुष्य उनके चारों ओर एकत्रित हो गए। ऐसी दशा में हम सहज ही में इस बात का अनुमान कर सकते हैं कि अत्याचार के भार से दबे हुए शूद्र लोग किस उत्साह से उनको

में उत्पन्न होने के कारण आज म नीच काय करने को बाध्य नहीं करते थे। मानव समाज का सगठन योग्यता और दक्षता के सिद्धान्तों पर अवलम्बित था। देशकाल और परिस्थिति के परिवर्तन के कारण वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों धर्मों में भेदक विचार अवश्य उत्पन्न होते गए किन्तु तीनों के अन्तस्तल म एक ही संस्कृति की झलक पूर्ववत् ही विद्यमान है। शुद्ध भारतीय जीवन रेखा अति प्राचीनकाल से तीनों धर्मों का आधार रही है। अनेक युगों से भारत के जीवन के प्रवाह को प्रसारित करने वाली सरिता एक ही है। किन्तु प्रवाह भिन्न हैं। एक ही वृक्ष की अनेक शाखायें हैं और एक ही सूर्य की अनेक किरणें हैं।



जैन धर्म मे स्त्री का स्थान

अनेक सदियों से भारत की प्राय सभी जातियों और धर्मों में स्त्री का स्थान बहुत गिर चुका है। उसको मनुष्य से नीची श्रेणी का समझा जाने लगा है और अनेक सामाजिक सुविधाए जो पुरुष को प्राप्त हैं स्त्री उन से वचित है। पुरानी रूढ़ियों के रङ्ग में रङ्गे हुए और अपने को एक मात्र प्राचीन भारतीय सस्कृति का खजाना मानने वाले बहुत से लोग आज भी जब कि ससार के और भागों के लोग बहुत आगे बढ़ चुके हैं स्त्री जाति को पुरुषों की काम वासना की तृप्ति का साधन या सतानोत्पत्ति की मशीन मात्र समझते हैं। उसको अबला कहा जाता है और अनेक दुर्गुण उसके सिर पर लादे जाते हैं। बहुत से दोष तो प्राकृतिक रूप में जन्म से ही उसमें माने जाते हैं। मनु महाराज भी लिखते हैं कि –

स्वभाव एव नारीणा नाराणामिह दूषणम्।
अतोऽयान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चित॥
अविद्वासमल लोके विद्वासमपि वा पुन।
प्रमदा ह्युत्पथ नेतु कामक्रोधवशानुगम्॥

अर्थात् – इस लोक में पुरुषों को विकार ग्रस्त कर देना यह तो नारियों का स्वभाव ही है इसी लिये बुद्धिमान् पुरुष नारियों की ओरसे कभी असावधान नहीं रहते। ससारमें कोई मूर्ख हो चाहे विद्वान्,काम के वशीभूत हुए पुरुष को स्त्रियां अनायास कुमार्ग में लेजा सकती

अर्थात्—सब दानों से उत्तम दान भार्यादान करने का है। इस प्रकार स्त्री का रुपये पैसे की तरह दान की सामग्री भी बनाया गया।

धन के लाभी घरानों में तो कन्या की बिक्री आजकल भी प्रचलित है।

पुत्र के जन्म पर लोग बधाई देने आते हैं और कन्या के जन्म पर सब की नानी मर जाती है। जिन स्त्रियों के सब कन्यायें उत्पन्न होती हैं लोग उनके दर्शन करना पाप समझते हैं और पति उनको छोड़कर दूसरे विवाह कर लेते हैं। जिस स्त्री के कोई सन्तान न होती हो तो दोष चाहे पुरुष का ही हो किन्तु वह भी स्त्री के गले मढ़ दिया जाता है। नव विवाहिता वधू के आने के बाद घर में यदि कोई दुर्घटना हो जाए तो वह भी उसी बेचारी के कर्मों का परिणाम समझा जाता है। अधिक कहां तक लिखा जाय दुनिया भरके दोष स्त्री पर थोप जाते हैं। महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है—

अन्तक पवनो मृत्युः पातालं वडवामुखम्।
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकत स्त्रियः ॥३८।२६

अर्थात् —यम वायु, मृत्यु पाताल वड़वानल, छुरे की धार, विष, सर्प और अग्नि के साथ नारी की तुलना की जा सकती है।

चिरकाल से चले आते स्त्री जाति के इस अपमान के प्रवाह में परम भक्त महात्मा कबीर दास भी बह गए। जरा उन की विचार धारा पर ध्यान डालिये —

नारी की झाईं परत अंधा होत भुजंग
कबीर तिन की कौन गति, नित नारि के संग ॥

कामिनी सुन्दर सर्पिणी, जो छेड़े तिहिं खाय।
जे गुरु चरनन रचिया, तिनके निकट न जाय॥

पर नारी पैनी छुरी मति कोई लावे अङ्ग।
रावण के दस सिर गए, पर नारी के सङ्ग॥

नारि निरखि न देखिये, निरखि न कीजे दौर।
देखे होते विष चढ़ै, मन आवै कछु और॥

नारि नाहिं जम अहै, तू मन राचै जाय।
मजारी ज्यों बालिकै, काढ़ि कलेजा खाय।

नैनों काजर पाइके गाढ़े बाधे केस,
हाथों मेहदी लाईकै, बाघनि खाया देस॥

इस प्रकार समाज को अवनति की ओर ले जाने वाले अन्ध विश्वासी और संकुचितवृत्ति के कूपमण्डूकों की कृपा से भारत में स्त्री को अनेक कुत्सित अपमानों का भाजन बनना पड़ा है। ऐसी स्थिति में यदि भारतीय नारी अपनी जाति को पाप कर्मों का फल या ऐश्वरीय अभिशाप समझे तो स्वाभाविक ही है। परन्तु अब विचारणीय बात यह है कि क्या अनादिकाल से वास्तव में स्त्री जाति का इसी दृष्टि से देखा जाता रहा है? इसका उत्तर यही मिलता है—कदापि नहीं। इस में सन्देह नहीं कि चिरकाल से स्त्री जाति को अनेक यन्त्रणाओं का सामना करना पड़ा है और उसने बड़े २ राक्षसी अपमान सहे हैं किन्तु वास्तव में जब हम भारतीय संस्कृति की गहराई तक पहुंचते हैं तो स्त्री जाति का स्थान बहुत ऊंचा पाते हैं। पुरुष की सब क्रियाएं स्त्री के बिना अपूर्ण होती हैं। क्रियायें ही क्यों वह स्वयं उसके बिना अपूर्ण है। पत्नी को 'अर्धाङ्गिनी' अर्थात् पुरुष का आधा अङ्ग माना जाता है। अतः पुरुष स्त्री के बिना पूर्णाङ्ग नहीं कहा जा सकता विष्णु पुराण के चौथे अध्याय में लिखा है —

कि जब २ स्त्री जाति को उसकी शक्तियों के विकास के लिये उचित मौका दिया गया तो वह किसी क्षेत्र में पुरुष से कम नहीं रही। जिन कार्यों को पुरुषों ने किया उनको स्त्रियां भी कर लेती था। विद्या के क्षेत्र में ही देखिये। जिस प्रकार वेदों में प्राचीनतम ऋग्वेद के मन्त्रों के बनाने वाले या द्रष्टा (पुरुष) ऋषि थे इसी प्रकार लोपमुद्रा, घोषा, विश्वावारा इन्द्राणी और अपाली आदि स्त्रियां भी वेदमन्त्रों की ऋषि थीं। गार्गी और सरस्वती की विद्वत्ता से सब परिचित हैं ही। आज कल भी अमेरिका में भारत की राजदूत श्री विजय लक्ष्मी पण्डित और स्वर्गीय उत्तर प्रदेश की गवर्नर श्रीमती सरोजनी नायडू की विद्वत्ता से कौनसा भारतीय परिचित नहीं है। भारत ही क्यों भारत की इन श्रद्धेय माताओं की विद्वत्ता विश्वभर में प्रख्यात है। इसी प्रकार विदेशों में भी मैडम क्यूरी आदि अनेक महिलाओं ने विज्ञान क्षेत्र में बड़े २ आविष्कार करके कमाल कर दिया है। इसी प्रकार वीरता के क्षेत्र में भी स्त्री पुरुष से पीछे नहीं रही। पुरुषों की भान्ति स्त्रियां भी बड़े २ संग्रामों में वीरता दिखाती आई हैं। मुद्गल पत्नी इन्द्रसेना ने बड़ी चतुराई से संग्राम में रथ हांका था और बड़ी वीरता से उसने इन्द्र के शत्रुओं का नाश किया था। अस्त्र संचालन कला में वह बड़ा प्रवीण मानी जाती थी। जब शत्रु गऊएं चुराकर जाने लगे इस वीर नारी ने उन से ऐसा युद्ध किया कि वे गौएं वहीं छोड़कर अपनी जान लेकर भागे।

पुराने समय को छोड़कर भारत पर मुगल और अंग्रेजी शासन के कुछ उदाहरण लीजिए। रानी दुर्गावती ने आक्रमणकारियों को कैसे संग्राम भूमि में पछाड़ा था। अमरसिंह राठौर की वीरपत्नी किस प्रकार लड़ते लड़ते अपने पति की लाश मुगल कोट से उठा लाई थी। कोल्हापुर की रानी ताराबाई इब्लकारन्जी की अनुवाई

इन्दौर की अहल्याबाई तथा झांसी की वीरांगना रानी लक्ष्मीबाई ने बड़ी ही चतुराई से राज्य शासन भी चलाया और युद्ध भी किये। ताराबाई की कूटनीति के कारण औरङ्गजेब को बुरी तरह मार खानी पड़ा। अनुबाई ने अनेक बार शत्रुओं को हराया। लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों के नाक में दम कर दिया था।

पुरुष की तरह राज्यसत्ता भी स्त्रियों के हाथ में रह चुकी है और उस बड़ी प्रवीणता से वे चलाती रही हैं। दक्षिण भारत में कुछ शिलालेख ऐसे मिले हैं जिन से स्त्रियों का राज्यशासन में भाग लेना सिद्ध होता है। सातवीं शताब्दी के मध्य भाग में चालुक्य वंश के राजा आदित्य की महिषी विजयभट्टारिका बम्बई के दक्षिण में राज्य करती थी। १०५३ ईस्वी में चालुक्य राजा सोमेश्वर की महारानी मैलादेवी बनवासी प्रान्त पर राज्य करती थी। जयसिंह तृतीय की बहिन अक्कादेवी १०२२ ईस्वी में किसुकद जिले पर राज्य करती थी। १०७९ ई० में विजयादित्य की बहिन कुंकुमदेवी कर्नाटक के धारवाड़ जिले पर शासन करती थी। इस से यह स्पष्ट है कि शासन कार्य में भी स्त्री पुरुष की भांति ही बड़ी पटु रही है और बड़ी समझदारी से राज्य के सब कार्यों का संपादन करती रही है।

इस प्रकार शिक्षा, विज्ञान, वीरता और राज्यशासन आदि सभी सामाजिक क्षेत्रों में स्त्री पुरुष के समान ही प्रख्याति प्राप्त करती आई है। फिर कोई ऐसा कारण दृष्टिगोचर नहीं होता कि स्त्रियों का पुरुषों के समान सम्मान न किया जाय।

आचरण, सहनशीलता, त्याग, तपस्या, प्रेम, करुणा, उपकार, कृतज्ञता, साहस, सेवा और श्रद्धा इन गुणों में तो पुरुष भी स्त्री की समानता नहीं कर सकता। सीता, सावित्री, पार्वती, द्रौपदी और दम

यती आदि अनेक हिंदू महिलाओं के चरित्र इस ग्रन्थ में उज्ज्वल उदाहरण हैं। रावण जब सीता को बलात् उठा कर ले गया तो लंका में जाकर उसने सीता को बहुत लालच दिये प्रार्थना की और बहुत डराया भी किन्तु उस के कहने का बिल्कुल अवहेलना करते हुए सीता ने जो कुछ कहा वह भारतीय नारी के गौरव को सदा बताता रहेगा। सीता ने कहा —

चरणेनाऽपि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥

अर्थात् —इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही मैं तो इसे अपने बाए पैर से भी नहीं छू सकती।

इसी प्रकार प्रजा के अनुरंजन के लिये राम ने अपनी प्राण वल्लभा सीता को वन में त्यागने का निश्चय कर लिया। सीता उस समय गर्भवती थी। जंगल में छोड़ने का भार लक्ष्मण पर छोड़ा गया और सीता को यह रहस्य घर पर नहीं बताया गया। जंगल में छोड़ते हुए लक्ष्मण ने जब सीता को यह बताया कि राम ने उसका त्याग कर दिया है तो सीता को यह वज्रपात के समान लगा। जनता के समक्ष सीता की अग्नि परीक्षा हो चुकी थी और यह सिद्ध हो चुका था कि उस का चरित्र निर्मल था फिर उसपर संदेह क्यों किया जाय? फिर गर्भावस्था का समय! कितना कठिन है ऐसी घोर विपत्ति में धीरज रखना? परन्तु सीता जानती थी कि उस के पति मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। वे उसका बुरा कभी नहीं चाह सकते। उसने लक्ष्मण से कहा —

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारो मयि शंकनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥

अर्थात् – राम कल्याण बुद्धि ठहरे वे अपने प्रिय पात्रों के कल्याण की कामना करने वाले हैं। वह मेरे लिये किसी अकल्याण का वस्तु की क्या कभी कल्पना भी कर सकते हैं। यह सब मेरे ही ज मान्तर के पापों का फल है।

ये हैं उच्चाचरण और सहनशीलता की पराकाष्ठा के आदर्श उदाहरण जो भारत की नारियों ने संसार के सामने रखे हैं।

कला कौशल और भौतिक विद्या में तो पाश्चात्य देशों की महिलाएं भी बड़ी उन्नति कर गई हैं किन्तु भारतीय नारी में जो खास विशेषता है वह है ब्रह्म विद्या के क्षेत्र में उतरने की। यह तपस्यापूर्ण आध्यात्मिक विशेषता अन्य देश की स्त्रियों में कम ही मिलती है। याज्ञवल्क्य ऋषि संसार के जीवन से विरक्त हो गए। जब वह अरण्य में जाने लगे तो उन्होंने अपनी पत्नी मैत्रेयी से जाने की आज्ञा मांगी। मैत्रेयी को ऐश्वर्य धन दौलत देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा कि तुम संसार में रह कर सुख और शान्तिमय जीवन व्यतीत करो। इसके उत्तरमें मैत्रेयी ने कहा—

येनाहं नामृता स्यां तेनाहं किं कुर्याम् ॥
(बृहदारण्यक)

अर्थात् – क्या मैं इस धन दौलत से अमर हो जाऊँगी जिससे मुझे अमरता प्राप्त न हो उस वस्तु को लेकर मैं क्या करूँगी? भोगों में कभी शान्ति नहीं मिला करती। भारत की स्त्री के इस प्रकार के आध्यात्मिक और त्यागपूर्ण उदाहरण स्त्री जाति के महान् गौरव को सदा बढ़ाते रहेंगे।

इस प्रकार जब हम प्राचीन भारतीय साहित्य का विश्लेषण करते हैं और उस की गहराई तक पहुंचते हैं तो इस निर्णय पर

है कि भारत की संस्कृति में स्त्री का स्थान बहुत ऊँचा है। पुरुष और स्त्री दोनों का सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। पुरुष जनक है तो स्त्री जननी है। भारतीय संस्कृति में जननी का स्थान बहुत ऊँचा है —

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ॥

अर्थात् - जननी और जन्मभूमि ये दोनों स्वर्ग से भी बढ़ कर हैं। जहां और बहुत से देश अपने देश को पितृभूमि कहते हैं हम अपने देश को मातृभूमि के नाम से पुकारते हैं। यह मातृत्व के प्रति असीम श्रद्धा का ही परिणाम है कि भारतीय द्वन्द्व नामों में भी प्रथम स्थान स्त्री को दिया जाता है। जैसे— सीता राम, राधाकृष्ण, गौरीशंकर, स्त्री पुरुष और माता पिता आदि। इन सब नामों में स्त्री का स्थान पहिले है। इस का कारण यही है कि स्त्री में मातृत्व का माधुर्य और महत्व है। पुरुष उस के बिना कुछ नहीं कर सकता और वह पुरुष को सन्मार्ग दिखाने वाली है और उस के भविष्य का निर्माण करने वाली है। जिस राष्ट्र की माताएं सुयोग्य हों वहां महापुरुष जन्म लेते हैं। भगवान् राम, कृष्ण महावीर, बुद्ध और गांधी आदि अनेक महात्माओं और महापुरुषों को माताओं ने ही जन्म दिया अतएव मनु महाराज के इस महावाक्य को कभी नहीं भूलना चाहिये —

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राऽफला क्रिया ॥

मनु अ० ३ श्लोक ५६

अर्थात् - जिस किसी भी कुल में स्त्रियों का पूजन या आदर सत्कार भली प्रकार होता है उस कुल पर देवता तक प्रसन्न रहते हैं।

और जहां स्त्रियों का अपमान होता है वहां सभी कर्म निष्फल होते हैं।
आगे फिर मनु जी लिखते हैं –

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा॥

मनु अ० ३, श्लोक ५८

अर्थात् – जिस किसी कुल की बहू-बेटियां किसी प्रकार का क्लेश पाती हैं वह कुल शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। किन्तु जहां पर इन्हें किसी तरह का क्लेश नहीं होता वह कुल सब प्रकार सुख सम्पन्न रहा करता है।

॥ जैन धर्म में ॥

स्त्री के लिये आदर स्थान देने वाले वैदिक धर्म की तरह जैन धर्म में भी स्त्री को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। किसी भी संस्कृति की उच्चता की कसौटी स्त्री के प्रति तत्कालीन समाज का व्यवहार है। जैन संस्कृति में अनादिकाल से स्त्री जाति का बड़े आदर सत्कार और श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। जैनधर्म के अवतारों को तीर्थंकर नाम से पुकारा जाता है। तीर्थंकर का अर्थ है तीर्थों की स्थापना करने वाले। तीर्थ चार हैं श्रावक, श्राविका, साधु और साध्वी। श्रावक के साथ श्राविका को और साधु के साथ साध्वी को समान रूप से धर्माचरण की आज्ञा दी है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग् चारित्र ये तीन जैन धर्म के रत्न माने जाते हैं। इन तीनों का उचित रीति से जीवन में उतारने के लिये शिक्षा नितान्त आवश्यक है जिस का विधान जैन धर्म में स्त्री और पुरुष दोनों के लिये समान है। जैनधर्म ग्रन्थों में लिखा है आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को

लिये लेखन कला का आविष्कार किया। उन्हीं की पुत्री के नाम पर लिपि का नाम ब्राह्मी पड़ा। आज कल जो नागरी लिपि प्रचलित है इस का प्राचीन नाम ब्राह्मी है। इस से यह स्पष्ट है कि जैनियों के तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव भी पुरुष की भांति स्त्री को सुशिक्षित बनाना परमावश्यक समझते थे। अतः जैन समाज में स्त्री शिक्षा का प्रचार और अधिकार अनादि काल से चला आता है। जयन्ती नाम की जैन श्राविका की विद्वत्ता से कौन जैन परिचित नहीं। वह शास्त्रार्थ के लिये बहुत प्रख्यात थी। उसने ही बौद्धाचार्य से मौद्गलयायन से शास्त्रार्थ किया था। सुरमंजरी और गुणमाला ये दोनों वैश्य कन्याएं वैद्यक शास्त्र की बड़ी पण्डिताएं थीं। इस से यह भी सिद्ध होता है कि स्त्री चिकित्सा के लिये वैद्यकशास्त्र में कुशल स्त्री चिकित्सक मिल सकती थीं और उत्तम कुल की कन्याएं वैद्यक व्यवसाय को प्रसन्नतापूर्वक अपनाती थीं। क्षत्रचूड़ामणि काव्य में लिखा है कि जीवंधर की माता मयूरयन्त्र नामक वायुयान में उड़ना सीखा करती थी। इस से स्पष्ट है कि कठिन से कठिन शारीरिक काम करने में भी स्त्रियां सकोच नहीं करती थीं। और पुरुष के समान ही मशीनरी का सञ्चालन और उस का ज्ञान प्राप्त करना अपने लिये आवश्यक समझती थीं। इस से जैन सभ्यता के प्राचीन काल में वायुयान जैसे किसी यन्त्र के अस्तित्व का पता चलता है।

❀ विवाह ❀

कन्याएं जब पढ़ लिख कर पूर्ण युवावस्था को प्राप्त हो जाती थीं तभी उन का विवाह संस्कार किया जाता था। बाल विवाह को बहुत बुरा माना जाता था। यदि पिता किसी कारण से छोटी उमर में कन्या की सगाई कर भी देता था तो कन्या को युवावस्था तक पहुंचने

तक उसका विवाह रोक रखा जाता था। कनकलता को इसी कारण अपने निर्दिष्ट पति से पृथक् रहने की आज्ञा दी गई थी। वैसे तो कन्या का पिता भी सुयोग्य वर ढूँढ देता था किन्तु स्वयंवर की प्रथा उत्तम मानी जाती थी। कन्या अपने गुण, कर्म और स्वभाव के अनुकूल योग्य वर चुन सकती थी। वह वर किसी भी जाति का हो इस की चिन्ता नहीं की जाती थी –

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवर गता वरम्।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे॥
(हरि० जिनदासकृत)

अर्थात् – स्वयंवर में गई हुई कन्या अपनी रुचि से अनुकूल सुयोग्य वर को चुन लेती है। वह वर उच्चकुल का हो या नीचकुल का इस का विचार नहीं किया जाता।

इस प्रकार जैनधर्म में विवाह का क्षेत्र इतना विशाल था कि कुलीनता, अकुलीनता उच्च या नीच वर्ण या भिन्न धर्म का कोई प्रतिबंध न था। यही कारण है कि राजा श्रेणिक ने ब्राह्मणी से विवाह कर लिया था और वैश्य पुत्र जीवंधर कुमार ने क्षत्रिय की कन्या गंधर्वदत्ता का स्वयंवर में विवाहा था। वणिक पुत्र प्रीतंकर ने अपना विवाह राजा जयसेन की पुत्री के साथ किया था। नन्द राजा महानन्दी की रानियों में एक शूद्रा रानी भी थी। इसी तरह धर्म की भिन्नता भी विवाह में बाधक नहीं बन सकती थी। वसुमित्र श्रेष्ठी जैन थे किन्तु उन की पत्नी धनश्री अजैन थी। पुष्यवर्धन जैन था किन्तु उसकी पत्नी विशाखा बौद्ध थी। श्रेणिक के पिता ने अपना विवाह एक भील कन्या से किया था। इसी तरह चारुदत्त का विवाह एक वेश्यापुत्री के साथ हुआ था। इस प्रकार प्राचीन जैन समाज में विवाह के लिये

विशेष बन्धन न थे। स्त्री जाति को बड़ी स्वतन्त्रता थी और विवाह का क्षेत्र बहुत विशाल था।

॥ परदा प्रथा ॥

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परदा हानिकारक ही सिद्ध होता है। जिस वस्तु को जितना अधिक छिपाने की कोशिश की जाय उतनी ही देखने वालों की उत्कण्ठा उस देखने के लिये बढ़ती है। पर्दे के अन्दर छिपा हुआ स्त्री का मुखमण्डल दर्शनेच्छुकों के चित्त को बेचैन कर देता है। मनुष्य उस के दर्शन के लिये पता नहीं क्या २ विकृत विचार अपने मन में लाता है और तरह २ का अभिनय करता है। यदि वही मुख मण्डल खुला हो तो व्यर्थ की उत्कंठा से सभी मुक्त रहते हैं। अब देखना यह है कि पर्दे का कारण वास्तव में है क्या? कुछ लोगों का कहना है कि पर्दे से स्त्री के शील की रक्षा होती है। वे लोग स्त्री की आटे के दीपक के साथ तुलना करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार आटे के दीपक को अन्दर रक्खो तो चूहों का डर बाहर रक्खो तो कौआ का। ठीक इसी प्रकार का डर स्त्री का भी है, इस लिये उसे लुकाकर ही रखना चाहिये और इस में उसके नाम 'लुगाई' की भी सार्थकता है। परन्तु वास्तव में इस प्रकार के विचार भ्रमपूर्ण ही सिद्ध होते हैं। पर्दा शील की रक्षा में कोई सहायता नहीं कर सकता। शील की रक्षा के लिये तो ज्ञानबल और आत्मबल की आवश्यकता है। जो स्त्री पातिव्रत्य धर्म के महत्व को अच्छी तरह समझती है और उसका पालन करती है वह नंगे बदन भले ही कहीं भी फिरे किसी पुरुष की क्या शक्ति है कि उसपर कुदृष्टि डाल सके। यदि स्त्री के विचार ही दूषित हों भले ही आप उसको कितने पर्दों में रक्खें आप उसके शील की रक्षा करने में कभी भी सफल नहीं हो

सकेंगे। शील की रक्षा बाह्य बन्धनों से नहीं हो सकेगी, किन्तु मानसिक बन्धनों से हो सकती है। अतएव शील की रक्षा के लिये पर्दे का अपनाना सर्वथा व्यर्थ है। इस के अतिरिक्त पर्दे की प्रथा स्त्री के स्वास्थ्य के लिये भी बहुत हानिकारक है। हम देखते हैं कि आज जिन प्रान्तों और जातियों में पर्देकी प्रथा भयानक रूप धारे हुए है उनकी स्त्रियां कमजोर, अशिक्षित और अनेक भयानक रोगों से ग्रस्त पाई जाती हैं। वे आदर्श गृहिणी बनने के प्रायः सभी गुणों से वञ्चित होती हैं। मेरे विचार से पर्दा प्रथा हमारी अपनी चीज नहीं है किन्तु दीर्घ काल के यवन शासन से हमारे में आई है। अस्तु-प्राचीन जैनधर्म इस पर्दे की कुप्रथा के रोग से मुक्त था। जैन महिलाएं घर की चार दीवारी की जेल में बन्द नहीं की जाती थीं। वे घर से बाहिर काम काज के लिये आती जाती थीं और समय समय पर विद्वानों से शास्त्रार्थ तक करती थीं। जब वे घर से बाहिर आती थीं तो लोग उन्हें बड़ी प्रतिष्ठा और सम्मान के साथ देखते थे। साधारण स्त्रियों की तो बात ही क्या रानियां तक राजदरबारों में खुल्लमखुल्ले चली जाती थीं। उत्तर पुराण में लिखा है कि एक बार राजा सिद्धार्थ राजदरबार में बैठे थे। रानी त्रिशला उन से मिलने के लिये वहां पहुंची। सिद्धार्थ ने बड़े सम्मान से उन को अपने पास राजसिंहासन पर बैठाया। अन्य सब राजकीय कार्यों की अपेक्षा करके सर्वप्रथम उन्होंने त्रिशलादेवी के आने का कारण पूछना चाहा। इस से यह स्पष्ट है कि प्राचीन जैन समाज में पर्दे जैसी भयानक कुप्रथा न थी। वर्तमान जैन समाज के भी कोई लोग इस पर्दे की प्रथा के रोग से बुरी तरह से ग्रस्त हैं। उनको अपने प्राचीन धर्म से शिक्षा लेनी चाहिये और पर्दे के बन्धन को तोड़ कर स्त्री जाति में शिक्षा का प्रचार करना चाहिये। शिक्षा के बिना स्त्री जाति में जागृति नहीं आ सकती और उस जागृति के बिना चन्दनबाला, मृगावती और सुभद्रा जैसी देवियां जैन समाज में पैदा न हो सकेंगी। अतः जैन गृहस्थ

का अब जागना चाहिये। सारा संसार आगे बढ़ता जा रहा है और आप भी अपनी संस्कृति को पहिचानिये।

॥ धार्मिक जीवन ॥

पुरुषों में बहु विवाह की प्रथा अवश्य प्रचलित थी किन्तु स्त्रियां एक पतिव्रत धारिणी होती थीं। गृहस्थ आश्रम में गृहस्थ के भार को सभालने के साथ २ स्त्रियां धार्मिक कार्यों की उपेक्षा नहीं करती थीं। प्रतिदिन प्रतिक्रमण करना और संतों की सेवा में बैठकर धर्मग्रन्थ श्रवण करना ये उनके नित्यकृत्यों के प्रधान अंग थे। वे अपने पति में बड़ी श्रद्धा और प्रेम रखती थीं। जब वे उन की इच्छा के विपरीत कार्य करते थे तो वे अपने अधिकार को भूलती न थीं और उन्हें युक्तियों द्वारा समझा कर ठीक कर लेती थीं। जम्बूकुमार जब दीक्षा लेने के लिये तैयार हुए तो उनकी पत्नियों ने उन को खूब समझाया और घर पर रहने के लिये बाध्य किया। जम्बूकुमार ने उन की सम्मति को प्रेमपूर्वक सुना और उस का पालन किया। इस से भी पता चलता है कि पति भी अपनी पत्नियों के उचित आग्रह की अवहेलना नहीं करते थे। आपत्तिकाल में स्त्रियां अपने शील की रक्षा भी बड़े साहस से करती थीं। चन्दन बाला की माता धारिणी, और महासती राजीमती इस सत्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

चम्पा नगरी में दधिवाहन नाम के राजा राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम धारिणी था जो बड़ी ही रूपवती थी। उस पर कौशाम्बी के राजा शतानीक ने चढ़ाई कर दी। दधिवाहन जंगल में भाग गया। शतानीक के एक योद्धा ने राजमहल को लूट लिया और धारिणी को काबू में कर लिया। वह उस पर आसक्त हो गया। धारिणी ने

बहुत समझाया बुझाया परन्तु वह कामान्ध हो रहा था अतः बलात्कार से अपनी वासना पूर्ण करने के लिये तैयार हो गया। धारिणी ने अपने सतीत्व की रक्षा के लिये तुरन्त अपनी जीभ खींच कर बाहिर निकाल दी और प्राण दे दिये। इस प्रकार अपने शील की रक्षा के लिये धारिणी ने अपने प्राणों की बलि दे दी और योद्धा के जीवन को भी इस आत्मत्याग के द्वारा धार्मिक जीवन में बदल डाला।

जैन धर्म के बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ जी बाल्य काल से ही विरक्त थे। विवाह की इच्छा न होने पर भी उन की सगाई मथुरा के राजा उग्रसेन की गुणवती पुत्री राजीमती से कर दी गई। वे बड़ों के अनुरोध को टाल न सके। जब बरात उग्रसेन के यहां पहुंची तो नेमिनाथ ने बरातियों के भोजन के लिये लाए गए पशुओं का बाड़ा भरा देखा। वे अपने विवाह के निमित्त निरपराध पशुओं का वध न देख सकते थे। वे वहां से भाग गए और गिरनार पर्वत पर जाकर दीक्षा लेली। जब राजीमती को इस बात का पता चला तो उसने भी पति का अनुसरण किया और दीक्षा लेली। दूसरे किसी कुमार के साथ विवाह करने के माता पिता के प्रस्ताव को उस ने ठुकरा दिया। दीक्षित अवस्था में एकबार जब वह गिरनार पर्वत पर जा रही थी तो वर्षा के कारण उस के वस्त्र भीग गए और उन्हें सुखाने के लिए वह एक समीप की गुफा में चली गई उसी गुफा में एक रथनेमि नामका साधु बैठा था। वह राजीमती के रूप लावण्य को देख कर कामासक्त हो गया और रति की प्रार्थना करने लगा। राजीमती आदर्श जैन महासतियों में से थी। वह अपने शीलधर्म को कब भूलने वाली थी। उसने कहा —

जइ सि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकुब्बरो।
तहा वि तेन इच्छामि जइ सि सक्खं पुरंदरो ॥

धिरत्थु त उसमो कामी जो त जीविय कारणा ।
य त इच्छसि आवेउँ से, यत मरण भव ॥ -

उतरा० अ० २२ श्लोक ४३ ४४

अर्थात् - हे रथनेमि यदि तुम रूप म साक्षात् कामदेव लीला म नल कुबेर या इन्द्र भी होता भी म तुम्हारी कामना नहीं कर सकती। तुम्हें धिक्कार है कि तुम वासनामय वमन किये हुए भोगों का त्याग कर उन्हें फिर भोगने की इच्छा कर रहे हो। इस प्रकार के पतित जीवन स तो तुम्हारा मरना ही अच्छा है।

यह है जैन नारियों के सतीत्व या शील की महानता और धार्मिक जीवन की उच्चता। इस प्रकार के नारी के सतीत्व रक्षा के उदाहरण अन्यत्र कम ही देखने म मिलते हैं। धारिणी और राजीमती इन दोनों महिलाओं के उदाहरण म यह भी स्पष्ट है कि दोनों ने केवल अपने शील की ही रक्षा नहीं की किन्तु चरित्र से भ्रष्ट होते हुए योद्धा और साधु का भी अपने सतीत्व की शक्ति स सन्मार्ग की ओर लगाया।

जैन शास्त्रों म विधवा विवाह की प्रथा के उदाहरण मेरे देखने म नहीं आए। इस स यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आजकल की तरह प्राचीन जैन समाज म विधवाओं की संख्या कम रही है और इस लिए विधवा विवाह की जटिल समस्या उन के सामने न आई हो। जो थोड़ी बहुत विधवाएँ होती होंगी वे धार्मिक जीवन व्यतीत करती होंगी। विधवाओं की संख्या कम होने के कुछ प्रमाण तो स्पष्ट ही हैं। जिस जाति म बाल विवाह की प्रथा प्रचलित हो या वृद्ध विवाह होते हों वहां विधवाओं की संख्या अधिक बढ़ने का डर रहता है। जैन समाज सौभाग्य वश इन दोनों कुप्रथाओं स मुक्त रहा है। बाल विवाह तो जैन धर्म म निंद्य समझा जाता था। और वृद्ध विवाह का प्रश्न

हो पैदा नहीं होता जब कि विवाह के लिये स्वयंवर की प्रथा सबसे उत्तम मानी जाती है। कन्या और वर दोनों का अधिकार था कि वे अपने गुण, कर्म, और स्वभाव के अनुकूल स्वयंवर में अपना जीवनसंगी या जीवनसंगिनी चुनें।

जैन सभ्यता कालमें सामाजिक जीवन इतना ऊँचा और आदर्श था कि जिस की प्रशंसा किये बनती है। लोग विपरीत कारणों के सद्भाव में भी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते थे। गुण होंगे वहां दोष भी हो सकते हैं, भूल पुरुष भी करता है और स्त्री भी। हो जाती है क्यों कि सभी सर्वज्ञ तो होते नहीं। ऐसी स्थिति में अपने में होने वाली अनेक भूलों की उपेक्षा करके दूसरे की भूल देखकर उस से घृणा करना यह छोटेपन की निशानी है। जैन धर्म ने इन बातों में बड़ी विशालता दिखाई है। यदि कोई स्त्री भूल से या अज्ञानता से मार्ग से फिसल जाती थी तो समाज उस से घृणा का व्यवहार नहीं करता था। उस को भी अन्य स्त्रियों की भाँति धर्म कार्य करने की पूरी स्वतन्त्रता थी। जैन पुराण में एक कथा आती है कि चम्पा नगरी में एक वनलता नाम की स्त्री थी। उस का एक युवक से अनुचित प्रेम हो गया था। वे पति पत्नी की तरह प्रत्यक्ष रूप से रहने भी लग गए थे तो भी समाज के लोग उन से घृणा नहीं करते थे। दोनों अपने अनुचित सम्बन्ध से लज्जित थे अवश्य थे किन्तु मुनियों के व्याख्यान सुनने जाते थे। उन्हें दान देते थे और देवपूजनादि सब धार्मिक कृत्य निरंतर किया करते थे। इसी प्रकार अंग रना कथा कोषमें भी एक ऐसा ही दृष्टान्त मिलता है। ज्येष्ठा नाम की एक आर्यिका अपने आचरण से भ्रष्ट हो गई थी उसे प्रायश्चित कराकर पुनः दीक्षा दे दी गई थी। लोग पूर्ववत् हो उस में श्रद्धा रखते थे। इस से यह स्पष्ट है कि जैन समाज में अज्ञानवश आचरण तक से पतित होने वाली

प्रति तुम्हारा क्या प्रयोजन हो सकता है ? इस के उत्तर में मलिन हृदय अशोकदत्त ने कहा कि इस संसार में जिस मनुष्य ने तुम्हारे दिव्यरूप को एक बार भी देख लिया है वह तुरन्त अपने लिये तुम्हें पाने का प्रयोजन रखता है। केवल एक तुम्हारा पति ही ऐसा पुरुष है जिस को तुम्हारे प्रति प्रयोजन नहीं है।'

प्रियदर्शना अशोकदत्त के मलिन भावों को समझ गई और उस ने ऐसे नीच विचारों के लिये खूब लताड़ा। अशोकदत्त बड़ा लज्जित हुआ और वह यह कह कर कि यह तो केवल परिहास के लिये कहा गया था निराश होकर भवन से बाहिर आगया। उस की आशा पर पानी फिर चुका था अतः वह बड़ा ही खिन्न और उदास था। एकाएक सागर चन्द्र भी उस मिल गया और पूछने लगा कि मित्र इस खिन्नता और उदासी का कारण क्या है ? धूर्तता का जाल रचते हुए अशोकदत्त ने पहले बताने से मना कर दिखाया आखें भर लीं और कुछ निश्वास भी छोड़े। यह सब जाल सागरचन्द्र से आग्रह कराने के लिये था। जब सागरने आग्रह किया तो कहने लगा – 'मित्र आप जानते ही हैं महिला सब अनर्थों का मूल कारण हैं। वह बिना बादल की बिजली है, ऐसी व्याधि है जिस के लिये कोई औषधि नहीं होती और ऐसी मोह-निशा है जिस का कभी अन्त नहीं होता। स्नेह से परिपूर्ण होते हुए भी जिस प्रकार दीपशिखा जलती रहती है। ठीक यही दशा स्त्री की भी है। आज मैं आप को ढूँढने के लिये आप के भवन पर गया था आप को वहां एकान्त जानकर प्रियदर्शना ने मुझ पर अपना कलुषित प्रेम प्रकट किया। बड़ी कठिनाई से अपने आप को उस के पंजे से बचाकर आया हूं। भला मैं आप जैसे घनिष्ठ मित्र को क्या स्वप्न में भी धोखा दे सकता हूं। अब सोच रहा था कि क्या मैं आत्मघात करलूं या न करूँ क्योंकि वह दुराचारिणी अवश्य मेरे प्रिय मित्र के पास झूठा कलंक मुझ

पर ही लगाने की शिकायत करेगी। यदि जो घटना हुई है सत्य २ मित्र से कहता हूँ तो यह भी ठीक न होगा क्योंकि मैंने उस द्रुण का मनोरथ पूर्ण नहीं किया। अतः यह और भी व्रण पर नमक छिड़कने के समान होगा। यह सब सोच ही रहा था कि आप मिल गए। सागरचन्द्र के लिये ये वचन वज्र के समान थे। उसने अपने आपको सभाला और अशोकदत्त को सान्त्वना दी और उसे कहा कि हमारी मित्रता में यह घटना कोई विषमता पैदा नहीं कर सकेगी। परन्तु प्रियदर्शना के लिये सागरचन्द्र का हृदय टूट चुका था। अब उस हृदय में वह पहले का मान और प्रणय न रह गए थे। उसको अपनी पत्नी प्रियदर्शना के आचरण पर पूर्ण सदेह हो चुका था। किन्तु यह सब होते हुए भी सागरचन्द्र ने आवश्यक शिष्टाचार और मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। अन्दर से सागर का हृदय अवश्य खिन्न रहता था किन्तु उस खिन्नता को उसने कभी भी अपनी पत्नी के सामने प्रकट नहीं किया। बाहर से वह पूर्ववत् ही प्रियदर्शना के साथ ऐसे शिष्टाचार से व्यवहार करता रहा कि उसे अपने पति पर सदेह तक नहीं होने पाया। प्रियदर्शना ने भी इस भय से कि दोनों मित्रों में उस के कारण वैमनस्य उत्पन्न न हो अशोकदत्त के दुराचार की बात अपने पति से न कही। इस प्रकार उच्चकोटि की मर्यादा पालन करते हुए दोनों ने अपना सारा जीवन बिना किसी कालुष्य के बिता डाला।

प्रियदर्शना की इस कथा से पाठकों को भलीभाँति पता चल गया होगा कि जैनधर्म में स्त्री का कितना उत्कृष्ट स्थान है। पति के लिये पत्नी के चरित्र पतन से बढ़ कर क्रोध का और क्या कारण हो सकता है किन्तु सागरचन्द्र ने यह सब होते हुए भी अपनी पत्नी पर न तो क्रोध ही किया और न कभी उस का निरादर ही। उल्टा उस के साथ ऐसे शिष्टाचार का व्यवहार किया कि उसे वास्तविक रहस्य

का पालन करवाने के लिये यह आवश्यक है कि समाज उन का धार्मिक वातावरण में रक्खे। किन्तु ब्रह्मचर्य का पालन कोई बच्चों का खेल नहीं है। बखानी बमा न्वा सरल काम होता है किन्तु इन्द्रियोंका दमन बड़ा कठिन काम है। संसार का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है कि बड़े २ ज्ञानी ऋषि और मुनियों को भी काम के आगे घुटने टेक देने पड़े। बड़े २ ज्ञानचर्चा करने वाले, ब्रह्मचर्य और संयम का उपदेश देनेवाले उपदेशक और उसका श्रवण करने वाले श्रावक क्या सच्चे हृदय से यह कह सकते हैं कि इन्द्रिय निरोध सरल काम है? फिर भला हम एक विधवा से यह आशा करना कि वह अवश्य ही इन्द्रिय निरोध कर लेगी कितना भ्रमपूर्ण है! हमारी समाज में ऐसे अनेकों घर हैं जहां माता पिता बड़ी उमर में भी कामवासना का त्याग नहीं करते और उनकी युवावस्था से परिपूर्ण बाल विधवा कन्याएं वैधव्य की ज्वाला में जला करती हैं। ऐसे माता पिता को चाहिये कि वे स्वयं संयम का पालन करें और अपनी कन्या को सात्विक और धार्मिक वातावरण में रक्खें जिस से उस के विचार विकृत न होने पावें। किन्तु इसके विपरीत आज कल के अधिकतर माता पिता स्वयं तो विलासपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं और अपनी अबोध कन्याओं से असंभवकी संभावना करते हैं। प्रोत्साहन स्वयं देते हैं और जब अपरिपक्व अनुभव वाली कन्या कुमार्ग में पतित होती है तो शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध जाने के सम्पूर्ण दोष को उस पर थापने में कोई कसर बाकी नहीं रखते। कोई दूसरा अपराध करे तो शास्त्र विमुख होनेका दुहाई दी जाती है और स्वयं अपराध हो तो शास्त्र की बात भी नहीं पूछी जाती। अस्तु मेरा कहने अभिप्राय यही है कि विधवाओं के लिये सात्विक और धार्मिक वातावरण पैदा करना और उसी में उनको रखना यह समाज का परम कर्तव्य है। यदि कोई कुमार्ग में पतित हो भी जाये तो उस पर शास्त्र

विमुखता के भाव को धारकर उससे दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये किन्तु शास्त्र के महत्व को समझाकर उसको सुमार्ग की ओर प्रवृत्त कराना चाहिये। मेरा तो मन्तव्य है कि यदि जैन शास्त्रों में बताए धर्म पर और नियमों पर हमारे लोग चलते तो न इतनी विधवाएं होतीं और न यह जटिल समस्या ही समाज के सामने उपस्थित होती।

इस में कोई संदेह नहीं कि प्राचीन काल से जैनधर्म में स्त्री का उच्च आदर्श सतीत्व रहा है और ब्रह्मचर्य को एक अलौकिक शक्ति और असाधारण तेज माना गया है। वास्तव में यह बात सत्य भी है किन्तु उस समय कुछ वातावरण और था। अब उससे सर्वथा भिन्न है। उस समय लोग अपनी संस्कृति के महत्व को पूर्णरूप से समझते थे और अपने जीवन में कार्यरूप में उस पर चलते थे। इस के लिये उनके चारों ओर उच्च धार्मिक विचारों का वातावरण भी अनुकूल था। आज वातावरण बदल चुका है। अनेक जातियों और धर्मों के साथ निरन्तर सदियों के सम्पर्क से हमारे संस्कार, विचार और रीति रिवाज परिवर्तित हो चुके हैं। अब हम प्रत्येक बात में जैन शास्त्र के विधानके अनुसार चलने का दावा नहीं कर सकते। शुद्ध श्रमण संस्कृति के पालक हम तभी बन सकते हैं जब कि दूसरे धर्मों के संस्कारों और विचारों को निकाल दें और रीति रिवाजों का त्याग दें। तब अपने सिद्धान्तों को समझें और उन्हें अपने जीवन में उतारें। फिर सामाजिक जटिल समस्याएं अपने आप हल हो जाएंगी। किन्तु सदियों का चढ़ा रंग एक ही दिन में नहीं उतर जाता। इस के लिये बड़े कठिन परिश्रम और त्यागमय जीवन की आवश्यकता है। इस महान् कार्य की पूर्ति के लिये जैन नवयुवक और सुधारक विद्वान् कार्यक्षेत्र में उतरें तो श्रमण संस्कृति के पुनः अभ्युदय में कोई संदेह नहीं रह सकता।

॥ अहिंसा परमो धर्मः ॥

अहिंसा एक महान् धर्म है। हिंसा से निवृत्त होने का नाम ही अहिंसा है। आत्मा के आवागमन या पुनर्जन्म पर विश्वास रखने से प्राणीमात्र के प्राणों के प्रति प्रतिष्ठा स्वयं पैदा हो जाती है। आवागमन का सिद्धान्त प्राणीमात्र के प्रति समता रखने का आदेश देता है। वह कहता है कि जिस प्रकार तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो इसी प्रकार तुम्हें पराए का भी करना चाहिये। संसार में मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि छोटे से बड़े तक जितने भी जीव हैं सब समान हैं। भिन्न २ कर्मों के कारण से वे भिन्न २ योनियों में पैदा हुए हैं। सुख दुःख सब का मनुष्य की तरह ही होता है अतएव उन सब के दुःख को अपने दुःख के समान समझना चाहिये। जो पुरुष ऐसा करता है वह महापुरुष कहलाता है। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी धर्म किसी न किसी रूप में अहिंसा परमोधर्म, की ओर मनुष्य को प्रेरित करते हैं।

भारत के अतिप्राचीन और प्रधान धर्म वैदिक, जैन और बौद्ध धर्मों के अवतारों और आचार्यों ने भी अहिंसा धर्म को जीवनकल्याण के लिये महान् धर्म बताया है। तीनों धर्मों के आचार्य और महर्षि अहिंसा पालन का उपदेश देते आए हैं। किन्तु समय की गति बड़ी विचित्र है। प्रत्येक सदी में नवीन परिस्थिति और वातावरण के कारण भिन्न २ विचार धारा के व्यक्ति पैदा होते रहते हैं। कुछ लोग स्वार्थ वश अपने जीवन को धर्म के अनुकूल न बना कर धर्म को अपने

[illegible] है। इस के पूर्वाचार्यों के [illegible] सिद्धान्तों की [illegible] हो जाते हैं और [illegible] में [illegible] का विरोध अर्थ [illegible] के [illegible] में [illegible] उत्पन्न हो जाते हैं। इस से [illegible] [illegible] पर [illegible] है और [illegible] [illegible] होती है। ऐसा [illegible] [illegible] में [illegible] और धर्मों में [illegible] जाता है। अस्तु, अब हमने यह [illegible] है कि वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों भारतीय धर्मों ने [illegible] का [illegible] [illegible] है और किस तरह इसका प्रचार किया है।

वैदिक धर्म में हिंसा-अहिंसा पर दृष्टिपात।

[illegible] [illegible] है कि 'अहिंसा परमो धर्मः' यह वैदिक सिद्धान्त है किन्तु वैदिक [illegible] में वेदों के [illegible] [illegible] का विधान [illegible] जाता है। [illegible] और [illegible] आदि [illegible] ब्राह्मणग्रन्थों में [illegible] के [illegible], गौ और [illegible] आदि पशुओं के [illegible] का स्पष्ट विधान मिलता है। इसी मत का आगे [illegible] [illegible] भी [illegible] पुष्टि करते हैं। [illegible] हिंसा का [illegible] [illegible] कहते हैं —

यज्ञार्थं पशवो [illegible] ॥

अर्थात् — यज्ञ के लिये पशुओं का मारने में [illegible] था। और [illegible] — [illegible] हिंसा [illegible] भवति। [illegible] में [illegible] [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]

यज्ञार्थं पशवो [illegible] स्वयमेव स्वयम्भुवा।
[illegible] भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः॥

मनु० अ० ५, श्लोक ३९

अर्थात् — स्वयंभू ब्रह्मा ने यज्ञ के लिये और यज्ञों की समृद्धि के लिये पशुओं को बनाया है। अतएव यज्ञ में पशु का वध अवध अर्थात् वधजन्य दोष रहित है। इसी प्रकार आगे लिखते हैं —

ओषध्य पशवो वृक्षास्तिर्यंच पक्षिणस्तथा।
यज्ञार्थं निधन प्राप्ता प्राप्नुवन्त्युत्सृती पुन ॥

मनु० ५/४०

ओषधि, पशु, वृक्ष आदि और पक्षी ये सब यज्ञ के निमित्त मारे जाने पर फिर उत्तम योनि में जन्म ग्रहण किया करते हैं।

याज्ञिकी हिंसा के विधान की तरह श्राद्ध में होने वाली हिंसा का भी मनु जी ने विधान किया है। श्राद्ध में खिलाए जाने वाले किस २ वस्तु से कितने २ दिन तक पितर प्रसन्न रहते हैं इस का वर्णन करते हुए आप लिखते हैं —

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेणाथ चतुर शाकुनेनाथ पञ्च वै॥
षण्मासाश्छागमांसेन पार्षतेन च सप्त वै।
अष्टावेणस्य मांसेन रौरवेण नवैव तु॥
दशमासांस्तु तृप्यन्ति वराहमहिषामिषै।
शशकूर्मयोस्तु मांसेन मासानेकादशैव च॥

अ० ३ श्लोक २६८, २६९, २७०

अर्थात् —पढिनी आदि मछलियों के मांस से दो महीने पर्यन्त, हरिण के मांस से तीन मास तक, मेढ के मांस से चार महीने और खाने

लायक पक्षी के मांस से पांच महीने पर्यन्त पितरोंकी तृप्ति होती है २६८॥

बकरी के मांस से छ मास, पृषतमृग के मांस से सात महीने एणजातीय हरिण के मांस से आठ महीने तक, और रुरुनामक मृग के मांस से नौ महीने तक पितरों की तृप्ति हुआ करती है ॥ २६९ ॥

बनैले सूअर तथा जगली भैंसे के मांस से दस महीने और खरहे तथा कछुए के मांस से ग्यारह मास पर्यन्त पितर तृप्त रहते हैं ॥ २७०॥

यज्ञ और श्राद्धादि कर्मों में हिंसा विधान का फल यह हुआ कि वैदिक धर्मावलम्बी किसी काल में व्यापक रूप से आमिषाहार करने लग गए थे। शूद्रादि छोटी जातियों के लोग तो बिना किसी बाधा के मांसाहार करते ही थे किन्तु ब्राह्मणोंने भी यज्ञकी आड़ लेकर या मांसाहार पर धर्म की मोहर लगाकर मांसाहार करना प्रारंभ किया। इस प्रकार पशुओं का व्यापक रूप में संहार होने लगा और अन्त में हिंसा का जो भयानक और मानवजाति का पतन की ओर ले जाने वाला परिणाम होता है वही हुआ। हिंसा से सामाजिक जीवन में निर्दयता, क्रूरता, दुष्टता और अत्याचार बढ़ने लगे और मानवता के आदर्श गुण समता, सहनशीलता, अनुकम्पा और सहृदयता मानव समाज से लुप्त होने लगे। सारी समाजिक व्यवस्था बिगड़ गई और लोग बुरे कर्मों में प्रवृत्त होने लगे। पतनान्मुख मानवसमाज को सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त करानेके लिये अब हिंसा के विरुद्ध आन्दोलन की आवश्यकता थी। सौभाग्य से वैदिक धर्म से ही कुछ ऐसे सम्प्रदायों का जन्म हुआ जिन्होंने वैदिकी हिंसा का विरोध किया। वैष्णव स्वामीनारायण और आर्यसमाज जैसी अनेक वैदिक धर्म की शाखाओं के धर्मगुरुओं ने हिंसा का खुले मैदान में विरोध किया और हिन्दूसमाज की बहुत बड़ी संख्या को आमिषाहार से निवृत्ति कराने में वे सफल भी हुए। हिंसा का विरोध क

उन्होंने वैदिक धर्मग्रन्थों का त्याग नहीं किया किन्तु ग्रन्थोंमें आनेवाले हिंसामूलक पाठों का अहिंसामूलक अर्थ किया। उदाहरण के लिये गोमेध यज्ञ का विश्लेषण करते हुए आर्यसमाज के सुयोग्य विद्वान् प० गंगा प्रसाद जी लिखते हैं* —

" बहुत से विद्वानों का कथन है कि वेद में पशुवध की आज्ञा है, यहां तक कि यज्ञ के लिये गोवध तक का विधान है। यह प्रश्न इतना विवादास्पद है कि उस की यहां विवेचना नहीं की जा सकती। तथापि हम वैदिक यज्ञ गोमेध के सम्बन्ध में जिस के अर्थ गोवध से लगाए जाते हैं कुछ कहना उचित समझते हैं। हम इस यज्ञ को जिन्दावस्थामें भी पाते हैं। स्वामी दयानन्द सरस्वती अपने सत्यार्थ प्रकाश† में बतलाते हैं कि संस्कृत भाषा के 'गो' शब्द के अर्थ केवल गाय के ही नहीं प्रत्युत पृथ्वी और इन्द्रियों के भी हैं। गोमेध का आधिभौतिक अर्थ खेती के लिये धरती जोतना और आध्यात्मिक अर्थ इन्द्रिय-दमन है। कुछ लोग इस व्याख्या का उपहास करते हुए उसे अर्थ की खींचातानी बताते हैं। वे यहां तक कह डालते हैं कि वेद के इस प्रकार अर्थ लगाना अन्याय है। हमें देखना चाहिये कि डाक्टर हाग जैसे प्रामाणिक और विश्वस्त पुरुष पारसियों के विषय में क्या सम्मति देते हैं। " गोश उर्व का अर्थ पृथ्वी का आत्मा है जो सब प्रकार के जीवन और वृद्धियों का कारण है। शब्द का अक्षरार्थ 'गौ की आत्मा' है। यहाँ उपमालङ्कार है क्योंकि पृथ्वी की गाय से तुलना की गई है। 'उस को काटने और बांटने से पृथ्वी में हल लगाने का अर्थ लिया जाता है।' अहुरमज्दा और स्वर्गीय सभा ने जो आदेश दिया है उसका मतलब यह

*धर्म का आदि स्रोत पृ० १५४।

†देखो सत्यार्थप्रकाश ११ समु० पृ० ३ ५ ।

है कि धरती को जोतना चाहिये। अतएव यह खेती के अन्न का [illegible] कहलाता है।"

'हिन्दुओं की गाय के लिये अघ्न्या प्रसिद्ध है। यह भी निश्चित है कि प्राचीन काल में पारसी लोग भी इसका बहुत आदर करते थे। तो फिर क्या यह कहना अयुक्त नहीं कि गोमेध का अर्थ गोवध है अपितु भाषा और भाव दोनों का समुचित विचार करते हुए उसका अर्थ हम 'धरती को जोतना' कर सकते हैं।"

इस उद्धरण से पाठकों को भलीभांति पता चल गया होगा कि किस प्रकार हिंसा के विरोधी वैदिक विद्वानों ने हिंसापरक शब्दों का अर्थ अहिंसापरक किया और वैदिक यज्ञों का प्रतिपादन न करते हुए भी उन यज्ञों को अहिंसामय सिद्ध किया। निःसन्देह यह प्रयत्न सराहनीय था। आमिषाहार करने वाले लोगों पर इस प्रचार का अच्छा प्रभाव पड़ा और बहुत से लोगों ने आमिषाहार का त्याग भी किया। इसके विपरीत कुछ अन्य पौराणिक विद्वानों ने ऐसे शब्दों को बदलना ठीक नहीं समझा और उन्होंने मांसपरक शब्दों का अर्थ मांसपरक ही किया किन्तु उन मांसपरक हिंसात्मक यज्ञों का विधान कलियुग में वर्ज्य बताया। वेदों के नाम पर या धर्म की आड़ लेकर होने वाली हिंसा को समाज से रोकने के लिये और अहिंसा धर्म का प्रचार करने के लिये यह दूसरा कदम था। ब्रह्मपुराण और आदित्यपुराण आदि बहुत से वैदिक ग्रन्थों में हिंसात्मक यज्ञों का कलियुग में निषेध किया है। [illegible] उपर्युक्त विश्लेषण से पाठकों को यह ज्ञात हो गया होगा कि वैदिक सम्प्रदाय में हिंसा का समर्थन करने वाले और निषेध करने वाले दो दलों का [illegible] बड़े जोर से चलता रहा है और [illegible] अपने मन्तव्य के प्रचार [illegible] रहे हैं। उसी प्रकार की [illegible]

में पाते हैं। वैदिकधमावलम्बियों में आमिषाहार करने वालों की संख्या भी बड़ी है और आमिषाहार का घोर विरोध करने वाले शाकाहारियों की भी कम नहीं। कुछ भी हो यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि वैदिकधर्म में भी 'अहिंसा परमो धर्म' इस सिद्धान्त का सम्मान हुआ है और वैदिक धर्मावलम्बी बहुत बड़ी संख्या में इसका पालन करते रहे हैं।

॥ जैनधर्म में अहिंसातत्व की साधना ॥

वैदिक धर्म में जब हिंसा प्रवृत्ति व्यापक रूप में फैल गई थी तो हिंसा का विरोध करने वाले आमिषाहारियों के लिये क्षोभ का कारण बने किन्तु इस के विपरीत जैन धर्म के परम्परागत शास्त्रीय ज्ञान में जब कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने मांसाहार का विधान बताया तो अहिंसा धर्म के पुजारी जैनसमाज में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। याकोबी आदि जर्मन विद्वानों ने आचाराग व कुछ सूत्रों का मांसपरक अर्थ किया है जिससे यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि जैनी लोग भी प्राचीन समय में मांसाहार कर सकते थे। इस से जैन समाज में बड़ा क्षोभ हुआ और इस का विरोध वैदिक धर्म में आर्यसमाज के समान जैनधर्म के स्थानकवासी सम्प्रदाय ने किया। स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्यों और विद्वानों ने सूत्रों में आए मांसपरक शब्दों का अर्थ वनस्पतिपरक किया और हिंसात्मक अर्थका खण्डन किया। जैनधर्म की दिगम्बर सम्प्रदाय के पूज्यपादादि आचार्यों ने तो सूत्रों का मांसपरक ही अर्थ मानकर उन सूत्रों को मानने वालों की निन्दा की और उपदेश दिया कि ऐसे सूत्रों को नहीं मानना चाहिये। सूत्रों के न मानने के लिये यह केवल बहाना मात्र है। वास्तव में दिगम्बर लोग सूत्रों को इस कारण नहीं मानते कि उन में यत्र तत्र वस्त्र का विधान है जिस से श्वेताम्बर मतक

पुष्टि होता है। अस्तु, मेरे अपने विचार से जैनधर्म या श्रमण संस्कृति जिसकी नींव ही 'अहिंसा परमो धर्म' पर रक्खी गई है उस में मांस मत्स्यादि का विधान अपवाद रूप में भी कर दिया हो यह संभव प्रतीत नहीं होता। अतः प्रारम्भसे ही सूत्रोंका वनस्पतिपरक अर्थ होना चाहिये।

जैन दर्शन के धुरंधर विद्वान् श्री प० सुखलाल जी संघवी तो सूत्रों के मांसमत्स्य द्योतक अर्थोंको आपवादिक मानते हैं। उनके निष्पक्ष विचार भी पाठकों की ज्ञान वृद्धि के लिये यहां दिये जाते हैं—

"कोई भी बुद्धिमान् यह तो सोच ही नहीं सकता कि सूत्रों की रचना के समय रचनाकार को वनस्पति और मांस आदि दोनों अर्थ अभिप्रेत होने चाहिए। निश्चित अर्थ के बोधक सूत्र परस्पर विरोधी ऐसे दो अर्थों का बोध करावें और जिज्ञासुओं को संशय या भ्रम में डालें यह संभव ही नहीं है। तब यही मानना पड़ता है कि रचना के समय उन सूत्रों का कोई एक ही अर्थ सूत्रकार को अभिप्रेत था। कौनसा अर्थ अभिप्रेत था इतना विचारनाभर बाकी रहता है। अगर हम मान लें कि रचना के समय सूत्रोंका वनस्पतिपरक अर्थ था तो हमें यह अवश्य मानना पड़ता है कि मांसमत्स्यादि रूप अर्थ पीछे से किया जाने लगा। ऐसी स्थिति में निर्ग्रन्थ संघ के विषय में यह भी सोचना पड़ेगा कि क्या कोई ऐसी अवस्था आई थी जबकि आपत्तिवश निर्ग्रन्थ-संघ-मांस मत्स्यादि का भी ग्रहण करने लगा हो और उस का समर्थन उन्हीं सूत्रों से करता हो। इतिहास कहता है कि निर्ग्रन्थ-संघ में कोई भी ऐसा छोटा बड़ा दल नहीं हुआ जिस ने आपत्तिकाल में, किये गए मांसमत्स्यादि के ग्रहण का समर्थन, वनस्पति बोधक सूत्रों का मांस मत्स्यादि अर्थ करके किया हो। अलबत्ता निर्ग्रन्थ संघ के लम्बे इतिहास में आपत्ति और

†देखो निर्ग्रन्थ सम्प्रदायपृ० १८ २०।

अपवाद व हजारों प्रसंग आए हैं पर किसी निग्रन्थ दल ने आपवादिक स्थिति का समर्थन करने के लिये अपने मूलसिद्धान्त अहिंसा से दूर जाकर सूत्रों का बिल्कुल विरुद्ध अर्थ नहीं किया है। सभी निग्रन्थ अपवाद का अपवाद रूप से जुदा ही वर्णन करते रहे हैं। जिसकी साक्षी छेद-सूत्रों में पद पद है। निग्रन्थसंघ का मानस भी ऐसा रहा है कि कोई ऐसे विकृत अर्थ का सूत्रों की व्याख्या में पीछे स्थान दे तो वह निग्रन्थसंघ का अंग रह ही नहीं सकता। तब यही मानना पड़ता है कि रचनाकाल में सूत्रों का असली अर्थ तो मांसमत्स्य ही था और पीछेसे वनस्पति अर्थ भी किया जाने लगा।"

"इस के सिवाये कोई २ साहसिक निर्ग्रन्थ प्रचारक नए २ प्रदेश में अपना निरामिष-भोजन का तथा अहिंसा—प्रचार का ध्येय ले कर जाते थे जहां कि उन को पक्के अनुयायी मिलने के पहले मौजूदा खान पान की व्यवस्था में से भिक्षा ले कर गुजर-बसर करना पड़ता था। कभी कभी ऐसे भी रागादि संकट उपस्थित होते थे जब कि सुवैद्यों की सलाह के अनुसार निग्रन्थों को खान पान में अपवाद मार्ग का भी अवलम्बन करना पड़ता था। वे और इन के जैसी अनेक परिस्थितियां पुराने निग्रन्थसंघके इतिहास में वर्णित हैं। इन परिस्थितियों में निरामिष भोजन और अहिंसा प्रचार के ध्येय का आत्यन्तिक ध्यान रखते हुए भी कभी २ निग्रन्थ अपनी एषणीय और कल्प्य आहार की मर्यादा को सख्त रूप से पालते हुए मांस मत्स्यादि का ग्रहण करते हों तो कोई अचरज की बात नहीं। हम जब आचारांग और दशवैकालिकादि आगमों के सामिष आहार-सूचक सूत्र देखते हैं और उन सूत्रोंमें वर्णित मर्यादाओं पर विचार करते हैं तब स्पष्ट प्रतीत होता है कि सामिष आहारका विधान बिल्कुल आपवादिक और अपरिहार्य स्थिति का है।"

अस्तु कुछ भी हो यह बात तो स्पष्ट है कि वैदिक धर्म के समान जैनधर्म में हिंसापरक शास्त्रीय पाठों के आधार पर कोई सम्प्रदाय या नए दल पैदा नहीं हुए। हां जैनधर्म क्योंकि अनादिकाल से अहिंसात्मक है या दूसरे शब्दों में अहिंसा ही इस के प्राण हैं इस कारण जब भी कभी किसी ने जैनधर्म पर हिंसा का साधारण भी दोष लगाया तो सारी जैनसमाज ने एक आवाज से उस का विरोध किया। जो धर्म अनादि काल से अन्य धर्मों में हिंसा प्रवृत्ति का घोर विरोध करता आया है और मानव समाज को हिंसामार्ग से हटाने के लिये सदा प्रयत्नशील रहा है वह भला अपने धर्म के लिये हिंसा की कल्पना भी कैसे कर सकता है। महात्मा बुद्ध ने तो वेद विहित यज्ञिकी हिंसा का विरोध बाद में किया किन्तु जैनधर्म पहले से ही उसका विरोध करता आ रहा था। गौतम बुद्ध के शिष्य तो उनके जीवनकाल में ही आमिषाहार में प्रवृत्त होगए थे किन्तु महावीर के अनुयायी कठिन से कठिन समय में भी अहिंसापथ से विमुख नहीं हुए। यही कारण है कि बुद्ध की अहिंसा की अपेक्षा महावीर की अहिंसा का प्रभाव भारतीय समाज पर अधिक पड़ा।

भगवान् महावीर ने अहिंसा धर्म का प्रतिपादन और प्रचार बड़े ही अलौकिक ढंग से किया। उन्हों ने मानव आदि की समता का उपदेश देते हुए कहा कि जीवों में दिखाई देने वाला शारीरिक या मानसिक वैषम्य सब कर्म मूलक है वास्तविक नहीं। इस लिये क्षुद्र से क्षुद्र योनि में पड़ा हुआ जीव भी कभी मानव योनि में पैदा हो सकता है और मानव का जीव भी क्षुद्र कर्मों के परिणाम स्वरूप क्षुद्रयोनि में पैदा हो सकता है। अतएव अहिंसा मार्ग का अनुसरण करते हुए सब के साथ समता का व्यवहार करो। इस के अतिरिक्त भगवान् ने अहिंसा का अविच्छिन्न महत्त्व एक हो घोषित करते हुए भी साधु के लिये पृथक् और श्रावक के लिए पृथक् अहिंसामार्ग का उपदेश दिया। साधु केलिये

ता उन्होंने अहिंसाधर्म का पालन करने के लिये सब प्रकार का कठिन से कठिन आपत्तियों को सहन करने की भी आज्ञा दी। उन्होंने कहा कि साधु के सामने सब से बड़ा जीवन का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त है और अहिंसा धर्म का मनसा, वाचा और कर्मणा पालन किये बिना वह प्राप्त होने वाला नहीं है। उन्होंने यह भी बताया कि सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह त्याग ये चार महाव्रत भी अहिंसा धर्म की पूर्णता के लिये ही परमावश्यक हैं।

गृहस्थों के लिये भगवान् ने कहा है कि गृहस्थों को यद्यपि अहिंसाधर्म का पालन करना पूर्णरूप से कठिन है किन्तु तो भी उन्हें जहां तक बन सके अपने जीवन के सभी कार्यों में अहिंसा का पालन करना चाहिये। गृहस्थ जीवन की सफलता के लिये सदाचार और सद्विचार परमावश्यक हैं जिन का आधार भी अहिंसा धर्म है। परन्तु गृहस्थ को साधुमार्ग की अतिकठिन सोपान पर उतरने की आवश्यकता नहीं है। वह अपने लिये प्रतिपादित धर्म का ही आचरण करता रहे तो उस के कल्याण के लिये पर्याप्त है। वैदिक धर्म में मनुष्य के भाग्य का निर्णय ईश्वर के हाथ में है किन्तु जैनधर्म में मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का कर्ता धर्ता है। भगवान् अपने उपदेशों में कहते थे कि यदि सुख चाहते हो तो शत्रुता बढ़ाने वाली हिंसा की भावना का त्याग करो और जीवमात्र के प्रति मैत्री की भावना रखो और फिर देखना तुम उत्तरोत्तर सुख की ओर ही बढ़ोगे। यह भगवान् के उस दिव्य और आदर्श उपदेशों का ही प्रताप है कि प्राचीन परम्परा से चले आते श्रमण संस्कृति के प्राणभूत अहिंसामार्ग पर आज भी जैनसमाज सुचारू रूप से चल रही है।

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय जिस प्रकार अहिंसा

धम ने म.त्व का समझा जाता था और उस का पालन किया जाता था ठाक उसी प्रकार की मा यता वतमान समय में भा जैन समाज म पा" जाती है। प्राय सब धमा त अनुयायी बड़ी सख्या में आमिषाहार में प्रवृत्त हा चुक हैं किन्तु सासाग्यवश जैनधमावलम्बी अब भा पूववत् शाकाहारी हैं और भगवान् क सदेश का नहीं भूल हैं। आज भा जैन समाज के व्यवहारिक, सामाजिक और आध्यात्मिक आदि सभा क्षेत्रा में अहिंसा क महत्त्व का उपेक्षा नहीं की जाती। यत्र तत्र शिथिलता का हाना ता अवश्यभावी है किन्तु व्यापकरूप म जैसमाज इस साधम का पालन करता ह।

श्रमण सस्कृति का आचार नीति में साधु क लिए पाच महाव्रता का विधान है। वे व्रत इस प्रकार हैं –

अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्या परिग्रहा।

अर्थात्–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचय, और अपरिग्रह य पाच महाव्रत हैं। इन पाच महाव्रतों म भी पाठक देखगे कि सर्वप्रथम स्थान अहिंसा महाव्रत को दिया गया है। वास्तव म देखा जाए ता जैनधम का नीव ही अहिंसा धम पर टिका हुइ है। यह कारण है कि जैनसाधुआ या श्रावका क जीवन में अनक चिह्न, उपकरण या क्रियाए अहिंसा क पालन का बोध कराते हैं। मुखवस्त्रिका, रजोहरण और मयूर पिच्छादि सब उपकरण अहिंसा पालन करने के उपकरण हैं। प्रतिलेखन क्रिया भी इसी सिद्धान्त को प्रतीक है। सक्षेप में जैनधम की प्रत्येक क्रिया अहिंसा क सिद्धान्त स ओतप्रोत है। ऐसा लगता है कि अहिंसा ही जैनधम है और जैनधम ही अहिंसा सिद्धा त का मूर्तरूप है। अहिंसा वास्तव में जैन धम का आत्मा है। यदि उपयुक्त पाच महाव्रता म स अहिंसा म व्रत को निर्मूल किया जाये और जैनधम क केवल

बाकी के चार महाव्रत ही मान लिये जाएं तो जैनधर्म, जैनधर्म नहीं रह जाता। अतएव अहिंसा महाव्रत को यदि शेष चार महाव्रतों का राजा मान लिया जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। भगवान् महावीर के उपदेश से भी यही पता चलता है कि शेष चारों महाव्रतों का पालन भी अहिंसा महाव्रत की पूर्णता की ओर ले जाने वाला है। इस प्रकार जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म है और इसी अहिंसा के प्रचार और पालन के कारण जैनधर्म विश्व के धर्मों में एक ऊँचा स्थान प्राप्त करता है।

अहिंसा शब्द की परिभाषा सब धर्मों के आचार्यों ने अपने २ दृष्टिकोण से भिन्न २ प्रकार से की है। जैनाचार्यों की परिभाषा के अनुसार हिंसा से बचने का नाम अहिंसा है। वे कहते हैं कि कषाय या प्रमाद के वशीभूत होकर मनसे, वाणी से या कर्म से दूसरे प्राणी को दुःख पहुँचाना या प्राणों से वियुक्त करना हिंसा होती है। जो प्राणी ऐसा नहीं करता वह अहिंसाधर्मका पालन करता है। हिंसा दो प्रकारकी होती है। पहली भावहिंसा और दूसरी द्रव्यहिंसा। आत्मा में राग द्वेष काम क्रोध मान, माया आदि विकृत भावों का उत्पन्न होना भाव हिंसा है। इन कषायों से आत्मिक ज्ञान का महान् हानि पहुँचती है। इन्हीं कषायों के वशीभूत होकर जब कोई प्राणी दूसरे प्राणी का वध कर देता है तो वह द्रव्य हिंसा बन जाती है। जैन सिद्धान्त के अनुसार यह दोनों प्रकार की हिंसा त्याज्य है। वास्तव में देखा जाय तो हिंसा ही समस्त दोषों या पापों की जननी है। हिंसा से बढ़कर संसार में कोई पाप नहीं। असत्य भाषण, चौर्यकर्म और दुराचरण आदि सब हिंसा की ही भिन्न २ शाखाएं हैं। अतएव हिंसा के त्याग से ही मानव जीवन सुखी बन सकता है। भगवान् महावीर स्वामी ने विश्व को अहिंसा का संदेश देते हुए कहा था —

'जीवन का प्रधान लक्ष्य शान्ति है और शान्ति का एकमात्र उपाय अहिंसा है। अतः यदि तुम जीवन के लक्ष्य तक पहुँचना चाहते हो तो उसके एकमात्र साधन अहिंसा धर्म को कभी मत भूलो।"

जब हम स्वयं शान्तिपूर्ण जीवन बिताना चाहते हैं तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम दूसरों को भी शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने दें। दूसरों के जीवन पर आक्रमण करके अपने लिये शान्ति की इच्छा करना वृथा है क्योंकि हिंसा की प्रतिक्रिया अवश्य होती है और उसके होने से जीवन में अशान्ति का आना स्वाभाविक है। अतः शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये अहिंसा मार्ग ही श्रेष्ठतम है। इस पर चलने से जीवन में शान्ति का ही साम्राज्य मिलता है।

जैन धर्म की अहिंसा में एक और बड़ी विशेषता हमें मिलती है। किसी का मत है कि पशु को न मारना अहिंसा है। कोई कहता है मनुष्य को न मारना अहिंसा है किन्तु जैन धर्म तो प्राणीमात्र को मन, वचन और काय से न मारने को अहिंसा मानता है। इस प्रकार जैन धर्म की अहिंसा प्राणीमात्र के प्रति मैत्री भाव रखने का उपदेश देती है।

जैन धर्म में प्राणी पांच प्रकार के माने जाते हैं। एक इन्द्रिय वाले, दो इन्द्रियों वाले, तीन इन्द्रियों वाले, चार इन्द्रियों वाले और पांच इन्द्रियों वाले। एक इन्द्रिय वाले जैसे पेड़। पेड़ के केवल स्पर्शेन्द्रिय होती है। दो इन्द्रियों वाले शंख, सीप और लट आदि। इनके केवल काया और मुख दो इन्द्रियें होती हैं। तीन इन्द्रियों वाले जीव, कीड़ी, खटमल आदि। इनके काया, मुख और नासिका तीन इन्द्रियें होती हैं। चार इन्द्रियों वाले मक्खी, मच्छर और वृश्चिक आदि। इनके काया, मुख, नाक और आंख ये चार इन्द्रियें होती हैं।

स्पष्ट वरके लिखा गया है। अत कट्टरपंथी सज्जनों को उसे ध्यान पूर्वक विवेक से समझना और जीवन में उतारना चाहिये।

हिंसा यदि जीवन की एक वास्तविकता है, तो अहिंसा जीवन का एक महान् धर्म है। हिंसा से जीवन का निर्वाह होता है और अहिंसा जीवन को परिपूर्णता की ओर ले जाती है। अत हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम जीवन की परिपूर्णता की ओर बढ़ें किन्तु परिपूर्णता की ओर चलने के लिये जीवन निर्वाह की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जीवन के सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में जीवन की शान्तिमय प्रगति के लिये अनेक हिंसामय उपायों को काम में लाना पड़ता है जिनके बिना सांसारिक व्यवहार चल नहीं सकता। यदि डाकू, चोर, लुटेरे और घातकों को भी दण्ड देने में हिंसा मान कर उसका पालन करने लगें तब तो संसार में अराजकता छा जाए और भयानक से भयानक उत्पात होने लग जाएँ फिर भला संसार में शान्ति की स्थापना कैसे हो सकती है? अतएव संसार की व्यवस्था को ठीक बनाए रखने के लिये और शान्तिपूर्ण जीवन की स्थापना के लिये जो हिंसा की जाती है वह तो पुण्य का रूप धारण कर लेता है या दूसरे श[ब्दों] में वह किसी हद तक अहिंसा धर्म का पोषण करती है। अत धूर्तों और आततायियों को दण्ड देने में कोई दोष नहीं। इसमें अहिंसा धर्म के पालन में कोई बाधा नहीं पड़ती। यही कारण है कि [जै]न राजनीति के अनुसार जो पांच यज्ञ बतलाए हैं उनमें सबसे पहला यज्ञ 'दुष्टस्य दण्ड' अर्थात् दुष्ट को दण्ड देना है। इसी प्रकार यदि कोई शत्रु हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करे, हमें परतन्त्र बनाना चाहे या लूट मार करे तो उसका मुकाबला करके उसे पीछे हटाने या मारने में भी कोई हिंसा नहीं माननी चाहिये। जैन राजनीति में 'रिपु राष्ट्र रक्षा' अर्थात् शत्रु से राष्ट्र की

ज्ञा क ने को पायवाँ यज्ञ बत या है। दुष्ट आततायी और शत्रु के मारने में यदि कुछ हिंसा मान भी ली जाए तो भी यह 'अहिंसा धर्म' की ओर ही मनुष्य का ले जाती है। विरोध व अल्प हिंसा से भविष्य में होने वाली महती हिंसा से मुक्ति मिलती है। विरोध न करके अपने विचारों को कुचलना, कायरता दिखाना और शत्रु का शिकार बन जाना यह क्या हिंसा नहीं है? इस मत का पोषण करते हुए और आत्म-संरक्षण पर ज़ोर देते हुए राष्ट्रपिता महात्मा गांधी लिखते हैं —

"आततायी के सामने कायर बन जाना, भाग जाना या मन से हिंसा करते रहना ज्यादा बुरा है। उसकी अपेक्षा तो निर्भय और बहादुर बन कर हिंसा करना ही अच्छा है। क्योंकि इस रास्ते किसी न किसी दिन मनुष्य अहिंसा तक पहुंच जायगा।"

एक बार एक बहन ने महात्मा जी को पत्र लिखा कि यदि कोई दैत्य जैसा पुरुष राह चलती स्त्री पर बलात्कार करे तो ऐसे संकट में फंसी हुई वह क्या करे? दर्शक क्या करें? इसके उत्तर में, महात्मा जी ने लिखा —

'असल चीज़ तो यह है कि स्त्रियाँ निर्भय बनना सीख जाएँ। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि जो स्त्री निडर है और दृढ़तापूर्वक यह मानती है कि उसकी पवित्रता ही उसका सतत्त्व की सर्वोत्तम ढाल है, उसका शील सर्वथा सुरक्षित है। निडरता या आस्था यह शिक्षा एक दिन में नहीं मिल सकती। अत एव यह भी समझ लेना चाहिये कि इस दरम्यान क्या किया जा सकता है। जिस स्त्री पर इस तरह का हमला हो, वह हमले के समय हिंसा अहिंसा का विचार न करे। उस समय अपनी रक्षा ही उसका परम धर्म है। उस समय जो साधन उसे सूझे उसका उपयोग करके वह अपनी पवित्रता

की और अपने शरीर का रक्षा करे। ईश्वर ने उसे नाखून दिये हैं, दांत दिये हैं और ताकत दी है। वह इनका उपयोग करे और करते २ मर जाय। मौत के भय से युक्त हर एक पुरुष या स्त्री स्वयं मर के अपनी और अपनों की रक्षा करे। सच तो यह है कि मरना हमें पसन्द नहीं होता। इसलिये आखिर हम घुटने टेक देते हैं। कोई मरने के बदले सलाम करना पसन्द करता है, कोई धन देकर जान छुड़ाता है, कोई मुँह में तिनका लेता है और कोई चींटी की तरह, रेंगना पसन्द करता है। इसी तरह कोई स्त्री लाचार होकर जूझना छोड़ पुरुष का पशुता के वश हो जाती है।

ये बात मैंने तिरस्कारवश नहीं लिखी केवल वस्तु स्थिति का ही जिक्र किया है। सलामी से लेकर सतीत्वभंग तक की सभी क्रियाएँ एक ही चीज की सूचक हैं। जीवन का लोभ मनुष्य से क्या क्या नहीं कराता? अतएव जो जीवन का लोभ, छोड़कर जीता है, वही जीवित रहता है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' इस मन्त्र के अर्थ को हर एक पाठक समझ ले और कण्ठाग्र कर ले।"

दर्शक पुरुष क्या करें ?

'यह तो स्त्री का धर्म हुआ लेकिन दर्शक पुरुष क्या करें? सच पूछो इस का जवाब मैं ऊपर दे चुका हूँ वह दर्शक न रह कर रक्षक बनेगा। वह खड़ा २ देखेगा नहीं। वह पुलिस को नहीं ढूंढने जायगा वह रेल की जञ्जीर खींचकर, अपने आपको कृतार्थ नहीं मानेगा। अगर वह अहिंसा को जानता होगा तो उस का उपयोग करते २ मर मिटेगा और संकट में फंसी बहन को, उबारेगा। अहिंसा से नहीं हिंसा द्वारा बहन की रक्षा करेगा।'

महात्मा जी के इस उत्तर से यह स्पष्ट है कि दुष्ट को दण्ड देने

समय हिंसा अहिंसा का विचार बिल्कुल छोड़ देना चाहिये। स्त्री को निभय होकर अपने सतीत्व की रक्षा के लिये हिंसा–अहिंसा का विचार छोड़ कर जिस प्रकार भी हो सके दुष्ट का सामना करना चाहिये और मर मिटने तक का सकोच न करना चाहिये। दर्शक को भी स्त्री की रक्षा के लिये अपनी जान की बाजी लगा देना चाहिये। जो सच्चे अहिंसा धर्म को समझता है और उसका पालन करता है वह दुष्ट के सामने कभी भी कायरता नहीं दिखाता। वह वीरों की तरह या तो दुष्ट को खतम कर डालता है या स्वयं लड़कर मिट जाता है। इस लिये अहिंसा धर्म वीरों का धर्म है। कायर और डरपोक इस धर्म का पालन नहीं कर सकते।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी को यदि बीसवीं सदी के अहिंसा के अवतार मान लिया जावे तो इस में अतिशयोक्ति न होगी। बहुत से विद्वानों ने महात्मा गांधी की तुलना भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध से की है और बहुत से इन को उन से भी बढ़ा चढ़ा कर मानते हैं। निस्सदेह कुछ लोगों को इस से एतराज भी है किन्तु कुछ भी हो मैं अपने दृष्टिकोण से यह दावे से कह सकता हूं कि पूर्वाचार्यों या पूर्वाचार्यों की भाँति ही महात्मा जी ने अहिंसा के वास्तविक स्वरूप को समझा था। उन्हों ने अपने जीवन में सुचारु रूप से अहिंसाधर्म का पालन किया और विश्व में उस का प्रचार किया। मैं तो कहूंगा कि महात्मा गांधी की अहिंसा में कुछ और भी विशेषता है जिस के कारण संसार में आज उस का इतना महत्व है। बीसवीं सदी जैसे विकास वाद के युग में राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसाधर्म को जो ऊंचा स्थान मिला है इस का श्रेय राष्ट्र पिता महात्मा गांधी का ही जाता है।

महात्मा जी ने अपना सारा जीवन अहिंसाधर्म की उपासना में

लग या। उन की उपासना भी संसार के साधारण महात्माओं की भाँति निष्क्रिय नहीं थी। वह सक्रिय थी। उन्हों ने केवल अहिंसाधर्म के मर्म को समझने में ही अपनी शक्ति नष्ट नहीं की किन्तु जीवन के व्यवहारिक सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक आदि सब क्षेत्रों में अहिंसा धर्म का कार्य रूप में परिणित करके देखा और उन्हें सर्वत्र इसका चमत्कार दृष्टिगोचर हुआ। जो भी आंदोलन वे चलाते थे उस का मूलाधार अहिंसा होता था और वे उस में सफल होते थे। भारत की स्वतंत्रता के आन्दोलन की नींव भी महात्मा जी ने अहिंसा के सिद्धान्त पर रखी। बरतानियाँ जैसी बड़ी सल्तनत के साथ टक्कर भी उन्होंने अहिंसा के शस्त्र के साथ ली। स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये भारतीयों का अहिंसा के शस्त्र का अभ्यास और उपयोग भी महात्मा जी ने सिखाया। भारत के लोग उन के बताए हुए मार्ग पर चले और उस का परिणाम यह हुआ कि अन्त में भारत की विजय हुई। विदेशियों को भारत भूमि छोड़ कर जाना पड़ा और अनेक सदियों से खोई हुई स्वतंत्रता को हम ने फिर से पाया। जब कि जापान जैसे बड़े २ शस्त्रधारी भी युद्ध का सहारा ले कर भी अपनी स्वतंत्रता से वंचित हो गए और भारत अहिंसाधर्म के बल पर स्वतन्त्र हुआ। यह सब राष्ट्र पिता महात्मा गांधी के नेतृत्व के कारण हुआ। भारत भूमि का यह सौभाग्य था कि इस में महात्मा जी जैसे महापुरुष का जन्म हुआ। मैं तो इन्हें वास्तव में अहिंसाधर्म का अवतार मानता हूं।

सभा में गांधी सेवा संघ की सभा में एक बार महात्मा जी ने भाषण दिया था जिस में अहिंसा धर्म के महत्व पर प्रकाश डाला था। उस भाषण के कुछ अंश मैं यहां पाठकों के ज्ञान के लिये देता हूं।

'अहिंसा' शब्द निषेध।

"जो अहिंसक है उस के हाथ में चाहे कोई भी उद्यम क्यों न रहे उस में वह अधिक से अधिक अहिंसा लाने की कोशिश करेगा ही। यह तो वस्तुस्थिति है कि बगैर हिंसा के कोई उद्योग चल नहीं सकता। एक दृष्टि से जीवन के लिये हिंसा अनिवार्य मालूम होती है। हम हिंसा को घटाना चाहते हैं और हो सके तो उस का लोप करना चाहते हैं। मतलब यह कि हम हिंसा करते हैं परन्तु अहिंसा की ओर कदम बढ़ाना चाहते हैं। हिंसा को त्याग करने की हमारी कल्पना में से अहिंसा निकली है इस लिये हमें शब्द भी निषेधात्मक मिला है। अहिंसा शब्द निषेधात्मक है।"

॥ अहिंसा की मर्यादित व्याख्या ॥

अर्थात् जो अहिंसा को मानता है वह उद्योग करेगा उस में कम से कम हिंसा करने का प्रयत्न करेगा। लेकिन कुछ उद्योग ही ऐसे हैं जो हिंसा बढ़ाते हैं। जो मनुष्य स्वभाव से ही अहिंसक है वह ऐसे चन्द एक उद्योगों को छोड़ ही देता है। उदाहरणार्थ यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि वह कसाई का धंधा करेगा। मेरा मतलब यह नहीं कि मांसाहारी अहिंसक हो ही नहीं सकता। मांसाहार दूसरी चीज है। हिन्दुस्थान में थोड़े से ब्राह्मण और वैश्यों को छोड़ कर बाकी के सब तो मांसाहारी हैं ही। किन्तु फिर भी वे अहिंसा को 'परमधर्म' मानते हैं। यहां हम मांसाहारी की हिंसा का विचार नहीं कर रहे हैं। जो मनुष्य मांसाहारी हैं वे सारे हिंसावादी नहीं हैं। मैं यह कैसे कह सकता हूं कि मांसाहारी मनुष्य अहिंसक नहीं होता। ऐण्ड्रूज से बढ़कर

अहिंसक मनुष्य कहां मिलेगा लेकिन वह भी तो पहिले मांसाहारी था। बाद में उस ने मांसाहार छोड़ दिया। लेकिन जब मांसाहारी था तब भी अहिंसक तो था ही। छोड़ने पर भी, मैं जानता हूँ कि कभी २ जब वह अपनी बहन के पास चला जाता था तब मांस खा लेता था या डाक्टर लोग आग्रह करते थे तो खा लेता था। लेकिन उस से उस की अहिंसा थोड़ी ही कम हो जाती थी! इस लिये यहां पर हमारी अहिंसा की व्याख्या परिमित है। हमारी अहिंसा मनुष्यों तक ही मर्यादित है।

॥ हिंसक और अहिंसक उद्योग ॥

लेकिन मांसाहारी अहिंसक तो बाज चीज छोड़ ही देता है। जैसे वह शिकार कभी नहीं करेगा। यानी जिस से हिंसा का विस्तार बढ़ता ही जाता है। इन प्रवृत्तियों में वह कभी न पड़ेगा। वह युद्ध में नहीं पड़ेगा। युद्ध में शस्त्रास्त्र बनाने के कारखानों में काम न करेगा। उन के लिये नए २ शस्त्रों की खोज नहीं करेगा। मतलब वह ऐसा कोई उद्योग नहीं करेगा जो हिंसा पर ही आश्रित है और हिंसा को बढ़ाता है।

अब कई उद्योग ऐसे भी हैं जो जीवन के लिये आवश्यक हैं लेकिन वे बिना हिंसा के चल ही नहीं सकते। जैसे खेती का उद्योग है ऐसे उद्योग अहिंसा में आ जाते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि उनमें हिंसा की गुंजायश नहीं है अथवा वे बिना हिंसा के चल सकते हैं। लेकिन उनकी बुनियाद हिंसा नहीं है। और वे हिंसा को बढ़ाने भी नहीं हैं। ऐसे उद्योगों में होने वाली हिंसा हम घटा सकते हैं और उसे

अपरिहार्य हिंसा की हद तक ले जा सकते हैं। क्योंकि आखिर अहिंसा हमारे हृदय का धर्म है। हम यह नहीं कह सकते कि किसी उद्योग का अहिंसा से अनिवार्य सम्बन्ध है। वह तो हमारी भावना पर निर्भर है। हमारा हृदय अहिंसक होगा तो हम अपने उद्योग में अहिंसा लाएंगे।

अहिंसा केवल बाह्य वस्तु नहीं है। मान लीजिये एक मनुष्य है। काफी कमा लेता है। और सुख से रहता है। किसी का कर्ज वगैरह नहीं करता। लेकिन हमेशा दूसरों की इमारत और मिलकियत पर दृष्टि रखता है। एक करोड़ से दस करोड़ करना चाहता है तो मैं उसे अहिंसक नहीं कहूंगा। ऐसा कोई धन्धा नहीं जिसमें हिंसा हो ही नहीं। लेकिन चन्द धन्धे ऐसे हैं जो हिंसा को ही बढ़ाते हैं। अहिंसक मनुष्य को उन्हें वर्ज्य समझना चाहिये। दूसरे अनेक धन्धों में अगर हिंसा के लिये स्थान है तो अहिंसा के लिये भी है। हमारे दिल में अगर अहिंसा भरी हुई है तो हम अहिंसक वृत्ति से उन धन्धों को करें। हम उन उद्योगों का दुरुपयोग न करें।

प्राचीन भारत की अर्थ-व्यवस्था।

मेरा कुछ ऐसा ख्याल है कि जिन्होंने हिन्दुस्तान के गांवों का निर्माण किया उन्होंने समाज का संगठन ही ऐसा किया जिससे शोषण और हिंसा के लिये कम से कम स्थान रहे। उन्होंने मनुष्य के अधिकार का विचार नहीं किया। उसके धर्म का विचार किया। वह अपनी परम्परा और योग्यता के अनुसार समाज के हित का उद्योग करता था। उसमें से उसे रोटी भी मिल जाती थी यह दूसरी बात थी। लेकिन उसमें करोड़ों को चूसने की भावना न थी। लाभ की भावना के बदले धर्म की भावना थी। वे अपने धर्म का

कन्त थ रोटी तो यों ही चल जाती थी। समाज की सेवा ही मुख्य काम था उद्योग करने का उद्देश्य व्यक्तिगत नफा न था। समाज का संगठन ही ऐसा था। उदाहरण ५ — गांव में बढ़ई की जरूरत होती थी वह खेती के लिये औजार तैयार करता था लेकिन गांव उसे पैसा नहीं देता था। देहाती समाज पर यह बन्धन लगा दिया था कि उसे अनाज दिया जाय। उसमें भी हिंसा काफी हो सकती थी। लेकिन सुव्यवस्थित समाज में उसे न्याय मिलता था। और किसी समय में समाज सुव्यवस्थित था ऐसा मैं मानता हू।

शरीर–श्रम।

इसी में शरीर श्रम आ जाता है। मनुष्य अपने श्रम से थोड़ी सी ही खेती कर सकता है। लेकिन अगर लाखों बघे जमीन के दो चार ही मालिक हो जाते हैं तो बाकी के सब मजदूर हो जाते हैं। यह बगैर हिंसा के नहीं हो सकता। अगर आप कहेंगे कि वे मजदूर नहीं रखते यन्त्रों से काम लेंगे तो भी हिंसा आ ही जाती है। जिसके पास एक लाख बीघा जमीन पड़ी है उसे यह घुमण्ड तो आ ही जाता है कि मैं इतनी जमीन का मालिक हू। धीरे २ उसमें दूसरों पर सत्ता कायम करने का लालच आ जाता है। यन्त्रों की मदद से वह दूर २ के लोगों को भी गुलाम बना लेता है और उन्हें इसका पता भी नहीं होता कि वे गुलाम हो रहे हैं। गुलाम बनाने का एक खूबसूरत तरीका इन्होंने ढूंढ लिया है। जैसे फोर्ड है एक कारखाना बना कर बैठ गया है। चन्द आदमी उसके यहां काम करते हैं। लोगों को प्रलोभन देता है विज्ञापन निकालता है हिंसक प्रवृत्ति का ऐसा मोहक रास्ता निकाल लिया है कि हम उसमें आकर फस जाते हैं। हमें इन बातों पर विचार करना है कि क्या हम उसमें फसना चाहते हैं? या उस से बचा रहना चाहते हैं।"

मेरा विशेष दावा ।

अगर हम अपनी अहिंसा को अविच्छिन्न रखना चाहते हैं और सारे समाज को अहिंसक बनाना चाहते हैं तो हमें उसका रास्ता खोजना होगा। मेरा तो यह दावा रहा है कि सत्य, अहिंसा आदि जो यम हैं वे ऋषि मुनियों के लिये नहीं हैं। पुराने लोग मानते हैं कि मनु ने जो यम बतलाए हैं वे ऋषि मुनियों के लिये हैं व्यवहारी मनुष्यों के लिये नहीं हैं। मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है वह पिण्ड भी है और ब्रह्माण्ड भी। वह अपने ब्रह्माण्ड का बोझ अपने कन्धों पर लिये फिरता है। जो धर्म व्यक्ति के साथ खतम हो जाता है वह मेरे काम का नहीं है मेरा यह दावा है कि अहिंसा सामाजिक चीज है केवल व्यक्तिगत चीज नहीं है। मेरा यह दावा है कि सारा समाज अहिंसा का पालन कर सकता है। मैंने इसी विश्वास पर चलने की कोशिश की और मैं मानता हूं कि मुझे उसमें निष्फलता नहीं मिली।

अहिंसा समाज का प्राण है ।

" मेरे लिये अहिंसा समाज के प्राण के समान चीज है वह सामाजिक धर्म है, व्यक्ति के साथ खतम होने वाला नहीं है। पशु और मनुष्य में यही तो भेद है। पशु को ज्ञान नहीं है मनुष्य को है। इसलिये अहिंसा उसकी विशेषता है। वह समाज के लिये भी सुलभ होनी चाहिये। समाज उसी के बल पर टिका है। किसी समाज में उसका विकास कम हुआ है किसी में अधिक विकास हुआ है। लेकिन उसके बिना समाज नहीं टिक सकता।" महात्मा जी ने अहिंसा धर्म को किस रूप में संसार के सामने रक्खा, किस प्रकार वे उसका पालन स्वयं करते थे और किस प्रकार वे अहिंसा का पालन हमारे से

चाहते थे यह उपर्युक्त अहिंसा पर प्रकट किए गए उनके विचारों से पाठक भली भांति समझ गए होंगे। वे अहिंसा धर्म को समाज का अङ्ग समझते थे। और कहते थे कि समाज इसके बिना टिक नहीं सकता। महात्मा जी कहा करते थे कि शस्त्रधारी पुरुष वीरता में अहिंसक व्यक्ति की बराबरी नहीं कर सकता। शस्त्रधारी के लिये तो शस्त्र का सहारा चाहिये और उसके बिना वह अपने आपको निर्बल अनुभव करता है। यही कारण है कि निःशस्त्र होकर वह शत्रु के सामने कायरता दिखाता है। शस्त्र के बिना वह अशक्त हो जाता है। अहिंसा धर्म अशक्तों का शस्त्र नहीं है, यह तो शक्तों का शस्त्र है। इसका पालन निर्बल लोग नहीं कर सकते। अहिंसा के विषय में ठीक यही मन्तव्य जैन धर्म का भी है। जैन धर्म भी अहिंसा को वीरधर्म मानता है।

हिंसा-अहिंसा विषयक बौद्ध दृष्टिकोण।

जैनधर्म के समान बुद्ध धर्म की भी नींव तो 'अहिंसा परमो धर्म' पर ही रक्खी गई थी और महात्मा बुद्ध ने भी भगवान् महावीर स्वामी की तरह वैदिकी हिंसा का विरोध किया। वास्तव में देखा जाए तो बुद्ध का वैदिकी हिंसा के विरुद्ध आन्दोलन ही बुद्ध धर्म को व्यापक रूप से फैलाने में कारण बना। अहिंसा के विरोध से महात्मा बुद्ध को बड़ी सफलता मिली। वह समय ऐसा था कि हिंसा बहुत बढ़ी हुई थी। यज्ञ के नाम पर पशु बलि आम होगई थी। अत्याचारों से तंग आई भारतीय समाज किसी सुधारक की ताक में थी। ऐसे समय में महात्मा बुद्ध की आवाज लोगों को ग्रीष्म के पश्चात् वर्षा के समान लगी। सब लोग उनके उपदेशों से आकर्षित हुए और अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ। किन्तु यह देखकर आश्चर्य होता है कि बुद्ध के बाद उनके अनुयायी व्यापक रूप में हिंसा में प्रवृत्त हुए और मांसाहारी बने।

[धारत के अन्य देशों के समान बौद्ध देशों में भी आज आमिषाहार व्यापक रूप में किया जाता है। सबसे बड़ा आश्चर्य हमें इस बात से होता है कि बौद्ध पिटकों तथा अन्य सूत्रों में भी यत्र तत्र आमिषाहार के विधान के प्रकरण मिलते हैं। एक सूत्र* में लिखा है कि महात्मा बुद्ध ने एक गृहस्थ से भिक्षा में सूकर का मांस ग्रहण किया उसके खाने से उनके पेट में शूल पैदा हुआ और उसी शूल के कारण उनकी मृत्यु हुई। उसी प्रकार अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भी बौद्ध भिक्षुओं के लिये ऐसे आमिषाहार ग्रहण करने की आज्ञा दी गई है जो उनके निमित्त से न बनाया गया हो। हिंसा विरोधी बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में इस प्रकार से मांसाहार का विधान मिलना एक बड़ी विचित्र बात है। महात्मा बुद्ध के जीवनकाल के उदाहरण होने के कारण इनको प्रक्षिप्त भी नहीं माना जा सकता। आजकल भी जो बौद्धधर्मावलम्बी व्यापक रूप से आमिषाहार करते हैं उनको अपने धर्म के प्रतिकूल आचरण के दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि बौद्ध धर्म ग्रन्थों में आमिषाहार का विधान है। अतः हम इस निर्णय पर पहुंच सकते हैं कि बौद्ध धर्म सबसे पहले अपनी जन्मभूमि भारतवर्ष में ही फला फूला और फलने फूलने के लिये भी इसको वैदिक-क्षेत्र मिला जो व्यापक रूप से आमिषाहार में प्रवृत्त था। वैदिक लोग यद्यपि बौद्धधर्मावलम्बी होगए थे किन्तु एक दम वे आमिषाहार का त्याग नहीं कर सके और बौद्ध होने के बाद भी वे उसका सेवन करते रहे और उन्हों ने ही आमिषाहार परक पाठों को बौद्ध ग्रन्थों में स्थान दिया। किन्तु यह निर्णय भी कोई विशेष सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता। यदि उपर्युक्त निर्णय मान लिया जाए तो एक बड़ा प्रश्न हमारे सामने यह आता है कि महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन काल में आमिषाहारक सूत्रों के पाठों की ओर उनके प्रचारकों की उपेक्षा क्यों की? क्या गौतम

* महापरिनिब्बाण सुत्त।

कल्याण अहिंसा धर्म की शरण में जाकर ही हो सकेगा। अहिंसा धर्म का सबसे बड़ा महामन्त्र या उपदेश है 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' अर्थात् संसार में सबको अपने समान समझो। जैसा व्यवहार तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो वैसा ही दूसरों से भी करो। यदि इस महान् उपदेश के तत्व को संसार के लोग समझे होते और उन्होंने इस पर अमल किया होता तो संसार में बड़े २ युद्धों का सूत्रपात न हुआ होता। गत दो महायुद्धों में मानव जाति का बहुत बड़ी संख्या में संहार हुआ। उस संहार का मुख्य कारण था हिंसा प्रवृत्ति जिसके द्वारा बलवान् राष्ट्र निर्बल राष्ट्र को हड़प कर जाना चाहता था। इसी प्रकार की प्रवृत्ति वर्तमान समय में भी अनेक राष्ट्रों में दृष्टिगोचर होती है। बलवान् राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को खा जाना चाहते हैं और तरह २ की धमकियों से उन्हें डराते हैं। सारे विश्व में बड़े २ नेताओं और वैज्ञानिकों का झुकाव तृतीय महायुद्ध की ओर जा रहा है। बड़े २ वैज्ञानिकों के मस्तिष्क भी दिवानिश इसी प्रकार की खोज में लगे हुए हैं कि किस प्रकार जल्दी से जल्दी कोई ऐसा आविष्कार हो सके जिसके द्वारा शीघ्रातिशीघ्र मानव जाति का संहार हो जाये। परमाणु बम और हाइड्रोजन इलैक्ट्रिक बम जैसे भयानक और घातक आविष्कारों से भी उनको सन्तोष नहीं हो रहा। वैज्ञानिकों के मस्तिष्क की वह अलौकिक शक्ति जो मानव जाति के उत्थान और निर्माण में लगनी चाहिये थी दुर्भाग्यवश उसके संहार में लगी हुई है। कितनी गिरावट है इस युग की जिसको लोग विकासवाद का युग कहते हैं। अपने ही संहार के लिये प्रवृत्त होना ही क्या विकासवाद के युग का लक्षण है? या हिंसा के गर्त की ओर चलना ही विकासवाद की निशानी है? यदि इसी प्रकार की मानवसमाज की मनोवृत्ति उत्तरोत्तर पतन की ओर ही बढ़ती गई तो मानवजाति को एक बहुत बड़े संहार में से गुजरना होगा

जिसकी कल्पना से भी दिल दहल उठता है। उस संहार से बचने के लिये मानवजाति को चाहिये कि वह अहिंसा धर्म की शरण ले और भौतिकवाद के आधारशिला का ही सब कुछ न समझे। आज का युग अधिक रूप से भौतिकवाद की ओर जा रहा है और आध्यात्मिक तत्व की उपेक्षा की जा रही है। यही कारण है कि विश्व के किसी कोने में भी मानसिक या आत्मिक शान्ति नहीं है। मनुष्य ने बड़े २ महत्व-पूर्ण आविष्कार करके प्रकृति पर विजय पाई है। उसने बड़े आश्चर्यजनक चमत्कार किये हैं किन्तु भौतिकवाद की इस उन्नति से वह आत्मिक शान्ति नहीं प्राप्त कर सका है। उल्टा वह उससे बहुत दूर चला गया है। आत्मिक और मानसिक शान्ति के लिये आध्यात्मिकवाद के रहस्य को समझने की आवश्यकता है जिसकी भौतिकवाद उपेक्षा करता है। आध्यात्मिकवाद का सबसे बड़ा आदर्श है आत्मिक और मानसिक शान्ति और यदि जीवन उससे वंचित है तो भले ही कितनी ही सम्पत्ति और ऐश्वर्य के साधन मनुष्य के पास हों वे सब निरर्थक हैं। एक अकिंचन पुरुष भी जिसका जीवन शान्तिपूर्ण है उस अनेक वैज्ञानिक साधनों से युक्त समृद्ध-पुरुष से लाख दर्जे अच्छा है जो विक्षुब्ध रहता है और जिसको चिन्ता के मारे निद्रा तक दुर्लभ होती है। आज का युग जो शान्ति से वंचित है उसका मुख्य कारण भौतिकवाद का अधिक विकास और उसकी ओर प्रवृत्ति है। यही कारण है कि हमारे पूर्वज महर्षियों ने भौतिकवाद की उपेक्षा करके अहिंसात्मक आध्यात्मिकवाद का सन्देश मानवजाति को दिया और कहा कि यदि कल्याण चाहते हो तो समता रक्खो और सब प्राणियों को शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने दो। उन्होंने कहा कि विश्व की व्यवस्था को समीचीन प्रकार से चलाने के लिये अहिंसा धर्म का पालन परमावश्यक है।

अहिंसा धर्म की शरण लेकर ही विश्व युद्धों की पुनरावृत्ति रुक सकती है और संसार से अशान्ति के बादल दूर हट सकते हैं। अहिंसा धर्म की शरण लेकर ही मानवजाति सुख और शान्ति की नींद सो सकती है। अतएव विश्व के सब राष्ट्रों का कर्तव्य है कि वे स्वार्थ बुद्धि छोड़कर मानवता के वास्तविक तत्त्व अहिंसा धर्म को समझें और उसका पालन करें। 'अहिंसा धर्म के पालन से ही विश्व का कल्याण होगा।



अनेकान्तवाद

अनेकान्तवाद जैन दर्शन की अपनी विभूति है और जैनदर्शन की एक विशेषता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने तो अनेकान्तवाद को जैनागम का जीव या बीज बतलाया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार जीव के बिना मृतक शरीर किसी काम का नहीं होता इसी प्रकार अनेकान्तवाद के बिना जैनागम भी सर्वथा निरर्थक और निस्सार है। यही कारण है कि जैनधर्म या जैन दर्शन का जो महत्त्व है वह अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के कारण ही है। अनेकान्तवाद एक महान् दर्शन है। यह ऐसा दर्शन है जो संसार के अन्य दर्शनों के सैद्धान्तिक कलह को मिटाकर उन में समन्वय कराता है। और उन के जीवन को पूर्ण और सत्य मार्ग की ओर प्रेरित करता है। संसार में व्यापकरूपसे फैली हुई असहिष्णुतारूपी विष का मूलकारण साम्प्रदायिक रोग है और अनेकान्तवाद उस रोग की निवृत्ति के लिये अमोघ औषध है। दूसरे की अच्छीसे अच्छी बात को या सिद्धान्त को भी बुरा बताना और अपने सारहीन तथ्य का भी समर्थन करना, इस वातावरण की जननी साम्प्रदायिकता है। उदारता और विशालता साम्प्रदायिता के पास तक नहीं फटकती। वह कटुता और विद्वेष फैलाती है। उस कटुता और विद्वेष को दूर करके अनेकान्तवाद माधुर्य और मैत्रीका संचार करता है। अनेकान्तवाद का सूर्य, साम्प्रदायवाद, मतान्धता या धर्मान्धता के अन्धकार को दूर कर संसार को सुखद ज्योति का प्रकाश देता है। यह सत्य असत्य और असत्‌ [illegible] कहने वालों के भ्रम का निवारण,

है और वादी प्रतिवादियों के शास्त्रीय कलह को मिटाने के लिये ऐसी व्यवस्था देता है जो दोनों को मान्य हो। अनेकान्तवाद की सुनिश्चित सत्य पर स्थिर हुई है। इस कारण वह सदा निष्पक्ष व्यवस्था का स्थापन करता रहा है। इसी महानता के कारण अनेकान्तवाद ने संसार के अन्य दर्शनों में ऊँचा स्थान प्राप्त किया है।

अन्य दर्शनों पर प्रभाव।

भारत के अन्य दर्शन वैदिक और बौद्ध भी अनेकान्तवाद से बहुत प्रभावित हुए। वैदिक और बौद्ध धर्मों के दार्शनिक ग्रन्थों में अनेकान्त दर्शन की मान्यता के उदाहरण बहुत मिलते हैं। निस्सन्देह वैदिक धर्म के कुछ दार्शनिक विद्वानों ने अनेकान्त सिद्धान्त का समय पर खण्डन भी किया किन्तु वैदिक दर्शन इसके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। बौद्ध सिद्धान्त पर तो अनेकान्त सिद्धान्त का बहुत ह प्रभाव पड़ा। दुर्भाग्यवश बहुत से कट्टर पन्थियों ने इसका पालन न किया जिसका परिणाम यह हुआ कि दिन प्रतिदिन धर्मान्धता ब गई और वैमनस्य का वातावरण फैलता गया। यदि अनेकान्तवाद समन्वय और शान्ति के सन्देश को संसार ने सुना होता तो उस इतिहास और ही प्रकार से लिखा होता।

जीवन मे धर्म की प्रधानता।

मानवजाति के इतिहास से पता चलता है कि हमारे पूवजो इहलौकिक और पारलौकिक दोनों के सुख और शान्ति के धर्म को ही प्रधान स्थान दिया था। संसार-सागर को पार करने लिये वे एकमात्र धर्म को ही तरणी समझते थे। मानव-जीवन भयानक आपत्तियों और घोर कष्टों का अन्त उन्होंने धर्म में ही

...ा। आदर्श-जीवन की बुनियाद भी उन्होंने धर्म पर ही रक्खी और सांसारिक बन्धनों से मुक्ति का मार्ग भी उन्होंने धर्म को ही बताया। अपने सारे जीवन के क्रियाकलाप में उन्होंने प्रधान स्थान धर्म को दिया और उस के पालन करने के लिये सर्वस्व तक बलिदान करने की शिक्षा दी। वे भगवान् से यहां तक प्रार्थना किया करते थे कि परमात्मा धन दौलत भले ही वापस लेले यमराज भले ही उन के प्राण जल्दी ही लेले किन्तु उन की बुद्धि धर्म से कभी विमुख न हो। धर्म से विमुख होने की अपेक्षा वे मृत्यु को अधिक अच्छा समझते थे। धर्म रहित जीवन की उन्होंने पाशविक जीवन से तुलना की। पूर्णरीति से धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले को उन्होंने परमात्मा तक की उपाधि से अलङ्कृत किया। सारांश यह कि हमारे पूर्वजों ने धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया।

॥ धर्म के नाम पर ॥

अब प्रश्न यह है कि क्या धर्म सत्य की कसौटी पर घिस कर अपने खरेपन और सार्थकता को प्रकट कर सका? जिस महती श्रद्धा और प्रेम से मानव ने धर्म की पूजा की थी क्या धर्म ने उस का उस का उचित ही फल दिया? क्या वास्तव में धर्म ने मानव जीवन को आदर्श बनाया? क्या वास्तव में धर्म ने संसार को स्वर्ग बनाकर उस का कल्याण किया? क्या संसार के लोग धर्म का पालन करके भयानक आपत्तियों और घोर कष्टों से मुक्ति पासके? क्या वास्तव में मानव ने धर्म की तरणी पर बैठकर संसार सागर को पार किया? क्या धर्म का पालन करने से मानव वास्तव में परमानन्द को प्राप्त हुआ? संसार का इतिहास इन सब प्रश्नों का उत्तर निषेधात्मक में ही देता है। योरोप और एशिया संसार में सर्वत्र धर्म के नाम पर बड़े २ युद्ध हुए

जिन में असंख्य निरपराध प्राणियों का रक्तपात हुआ। यारोप की इन्क्वीज़ीशन और स्टार चैम्बर न्यायालय नाम की दो धार्मिक अदालतों में जो रोमांचकारी घटनाएं हुई उन को पढ़ कर हृदय दहल उठता है। इन दोनों धार्मिक न्यायालयों में धर्म के नाम पर अनेकों निरपराध व्यक्तियों के सिर तलवारों से काट दिये जाते थे। और बहुतों को जिन्दा ही आग में जला दिया जाता था। केवल इन दो धार्मिक अदालतों में ही धर्म के नाम पर एक करोड़ निरपराध व्यक्तियों को मृत्यु का दण्ड दिया। इसी प्रकार भारत में औरङ्गजेब की धर्मान्धता को लोग अभी तक नहीं भूले हैं। संसार में धर्म के नाम पर हृदय को कंपाने वाली यन्त्रणाएं लोगों को दी गई। स्त्रियों पर अत्याचार किये गए और अबोध बालकों को तलवार के घाट उतारा गया। धर्म के नाम पर मानव ने ऐसे २ घोर पाप किये जिन की सम्भावना राक्षसों और पशुओं से भी नहीं की जा सकती। बीसवीं सदी वैज्ञानिक युग है। इस को विकासवाद का युग भी कहा जाता है। इसका मानव बड़ा सभ्य और उन्नत माना जाता है किन्तु इसने भी धर्म की दुहाई देकर ऐसे २ अत्याचार किये हैं जिन का प्रकट करते भी लज्जा आती है। दूर जाने की क्या आवश्यकता है। अभी थोड़ा समय पहले सन् १९४७ में जब भारत का विभाजन हुआ उस समय धर्मान्धता के कारण मानव ने मानव पर जो भीषण अत्याचार किये उन्हें किसी से भूले हैं। धर्म के नाम पर मनुष्य ने अपनी जाति और भाई बहनों पर ऐसे २ घोर अन्याय किये हैं कि यदि उन की तुलना राक्षस या पशु से की जाय तो यह उनका लाञ्छन लगाना होगा। इस प्रकार धर्म के नाम पर हुए अत्याचारों का यदि विस्तार पूर्वक लिखा जाय तो, एक स्वतन्त्र पुस्तक तैयार हो जाए। अस्तु यह सब क्यों हुआ? क्या धर्म ने मानव जाति को यही कुछ सिखाया था? क्या धर्म की बुनियाद हमारे पूर्वजों ने इन्हीं अत्याचारों

पर रक्खी थी ? क्या धर्म का आविष्कार मानव जाति के सहार के लिये किया गया ? क्या धर्म का प्रधान लक्ष्य संसार में फूट डालकर परस्पर कलह और अत्याचार करवाना ही था ? इन सब प्रश्नों का उत्तर भी निषेधरूप में ही मिलता है। इन प्रश्नों का उत्तर जैनधर्म का अनेकान्तवाद देता है। अनेकान्तवाद का कहना है कि धर्म का उद्देश्य बहुत ऊंचा है धर्म उत्तम शिक्षा देता है और समाज को उन्नति पथ की ओर ले जाता है। धर्म फूट नहीं किन्तु संगठन और शांति के संदेश का प्रचार करता है। किन्तु समझने वालों ने उस का ठीक स्वरूप नहीं समझा। उन्होंने उसे गलत समझा और उस गलत समझने का परिणाम यह हुआ कि संसार में धर्म के नाम पर अनेक उत्पात और अत्याचार हुए धर्म का नाम बदनाम हुआ। अतः एव संसार में जो अत्याचार हुए वे धर्म को समझने वालों की अज्ञानता के कारण हुए धर्म का इस में कोई दोष नहीं था। धर्म की नींव तो सत्य पर ही रक्खी गई थी और उस का आविष्कार मानव जाति के कल्याण और सुखशान्ति के लिये ही किया गया। धर्म का प्रधान लक्ष्य संसार से कलह और वैमनस्य मिटाकर संगठन का ही प्रचार करना रहा है किन्तु समझने वालों ने धर्म के पूर्णस्वरूप को न समझ कर उस के एकान्त स्वरूप को समझा और इसी के कारण भिन्न धर्मों में कलह का बीजारोपण हुआ। उदाहरण के लिये जैन साहित्य में एक कहानी आती है जो काफी प्रसिद्ध है।

किसी देहात में दो अन्धे पुरुष रहते थे। उन्होंने कभी हाथी नहीं देखा था। एक दिन अकस्मात् कोई धनी पुरुष हाथी पर चढ़कर उस देहात में आया। यह समाचार उन सब अन्धों को मिला उन्हें हाथी देखने की बड़ी उत्कण्ठा हुई और वे उसे देखने को गए। एक अन्धे ने [illegible] की पूंछ को पकड़ा। दूसरे ने हाथी के

हाथ फेरा। तीसरे ने उसके पेट पर हाथ चलाया। चौथे ने हाथी के कान को पकड़ा। पांचवें का हाथ हाथी के दांत पर जा पड़ा और छठे ने उसकी सूंड पर भी हाथ फेरा। इस प्रकार वे छः अंधे पुरुष हाथी को देखकर अपने घर लौट आए। सायंकाल जब वे फिर इकट्ठे बैठे तो हाथी का वर्णन करने लगे। जिसने केवल पूंछ का छुआ था उसने हाथी को रस्से के समान बताया। जिसने टांग को पकड़ा था उसने हाथी को खम्भे के समान बताया। जिसने हाथी के पेट पर हाथ फेरा था उसने उसे एक बड़े घड़े के समान बताया। जिसने केवल कान को छुआ था उसने हाथी को बड़े सूप के समान वर्णन किया। जिस ने केवल हाथी का दांत पकड़ा था उस ने उसे सींग के समान बताया। जिस ने हाथी के सूंड का स्पर्श किया था उस ने हाथी का मूसल जैसा वर्णन किया। इस प्रकार सब ने हाथी का भिन्न २ स्वरूप वर्णन किया। और अपने को सच्चा मान कर वे आपस में झगड़ने लगे। उन में से प्रत्येक अपना जोरदार शब्दों में अपने देखे हस्ति के स्वरूप की ही पुष्टि करता था। इतने में आंखों वाला एक पुरुष वहाँ से गुजरा। वह उन के झगड़े के मूल कारण को समझ गया और उस ने उन से कहा कि तुम व्यर्थ में ही आपस में झगड़ रहे हो। अनेकान्त के सिद्धान्त के अनुसार वास्तव में तुम सभी सच्चे हो। तुम में से किसी ने भी सम्पूर्ण हाथी को नहीं देखा किन्तु उस के भिन्न २ अंगों को देखा है और तुम उन भिन्न अंगों को ही हाथी समझ बैठे हो। तुम्हारी हर एक की बात उस अंग की अपेक्षा जो उसने देखा है सच्ची है। पूंछ की अपेक्षा हाथी रस्से के समान, टांग की अपेक्षा खम्भे के समान, पेट की अपेक्षा घड़े के समान, कान की अपेक्षा सूप के समान, दांत की अपेक्षा सींग के समान, और सूंड की अपेक्षा मूसल के समान कहला सकता है किन्तु एकान्त दृष्टि से हाथी को रस्से या खम्भे के समान समझना अज्ञानता है।'

इस कथानक में अनेकान्तवाद का सार आजाता है। इस से यह भी भलीभाँति स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु को यदि हम एकान्त दृष्टि से देखेंगे तो हमें उस के पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तु का ज्ञान पूर्णरूप से करने के लिये अनेकान्त दृष्टि की आवश्यकता है और अनेकान्त दृष्टि अनेकान्त दर्शन के ज्ञान से ही मिल सकती है।

॥ एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म ॥

अनेकान्तवाद के प्रतिपक्षियों ने यह कह कर कि एक ही वस्तु में दो विरोधी धर्म नहीं रह सकते अनेकान्तवाद का प्रत्याख्यान करने का प्रयत्न किया किन्तु वे इस में सफल नहीं हो सके। हम देखते हैं कि संसार के सारे पदार्थ अनेकान्तात्मक या अनेक धर्मात्मक हैं। सागरदत्त नाम का एक ही पुरुष किसी का पिता, किसी का पुत्र, किसी का पति, किसी का मामा और किसी का नाना आदि होता है। जिस समय पुत्र के द्वारा उस को पिता कह कर पुकारा जाता है उस समय वह अन्य पुत्र, पति, मामा, और नाना आदि अनेक विरुद्ध धर्मों को भी धारण करता है इससे यह स्पष्ट है कि वह अनेक विलक्षण कार्यों के अस्तित्व को रखते हुए अनेक धर्मात्मक है। सागरदत्त न केवल पिता ही है, न केवल पुत्र ही है और न केवल पति ही है किन्तु भिन्न २ अपेक्षा से वह सब कुछ है। दार्शनिक विद्वान् माननीय पं० माणिक चन्द्र जी ने अनेकान्तवाद का विश्लेषण बड़े ही सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार किया है—*

"संयोग सम्बन्ध से पर्वत में अग्नि है किन्तु निरुक्त सम्बन्ध से

* दर्शन का स्याद्वाद पृष्ठ ११०।

अग्नि म व ी पचन ठहरता है। स्वनिष्ठ विषयिता निरूपित विषयता सम्बन्ध से अर्थ में ज्ञान निवास करता है साथ ही स्वनिष्ठ विषयिता निरूपित विषयिता सम्बन्ध से ज्ञान में अर्थ ठहर जाता है। ब यत्व सम्बन्ध से बर्फ का यार है। उसी समय वनकत्व सम्बन्ध से यार का वग है। समवाय सम्बन्ध से डालियाँ वृक्ष हैं, तदैव समवेतत्व सम्बन्ध से वृक्ष में डालियाँ हैं।

या धर्मांश धर्म बन जाना और धर्म का धर्मी बन जाना जैन दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार कोई विरोध नहीं रखता है। अग्नि में दाहकत्व, पाचकत्व, स्फोटकत्व, शोषकत्व प्रकाशत्व धर्मों के साथ ही शैत्यसम्पादकत्व धर्म भी है। अग्नि से झुरसे हुए का अग्नि से ही सेका जाता है। 'विषस्य विषमौषधम्' गर्मी का इलाज गर्मी ही है। जल से भीगने पर ता घाव में चौगना दाह बन जाता है। जल से जमाई बर्फ के टुकड़े २ में गर्मी घुसा हुई है, समुद्र में बड़वानल है।"

इससे पाठकों को भली भांति स्पष्ट हो गया होगा कि विरोधी धर्म एक स्थान में रह सकते और रहते हैं। संसार के सब पदार्थ अनेक धर्मात्मक हैं अतः उनको अनेकान्तवाद की दृष्टि से देखना ही अनेकान्त वाद का सार है। इसी अनेकान्तवाद को स्याद्वाद भी कहते हैं। 'स्यात्' शब्द का अर्थ है 'कथंचित्' या किसी की अपेक्षा से। इसलिये बहुत से लोग अनेकान्तवाद को कथंचिद्वाद और अपेक्षावाद के नामों से भी पुकारते हैं किन्तु सिद्धान्त वास्तव में एक ही है।

सप्त भंगी।

इसी स्याद्वाद का जैन दर्शन में सप्तभंगी के रूप में वर्णन किया है। वस्तु और उसके प्रत्येक धर्म का विधान और निषेध सापेक्ष होने के कारण वस्तु और उसके धर्म का प्रतिपादन सात प्रकार से किया जा सकता है। जैसेः—

(१) स्यादस्ति— कथंचित् है।
( ) स्यात् नास्ति— नहीं है।
(३) स्यादस्ति नास्ति— है और नहीं है।
(४) स्यादवक्तव्यम्— अवाच्य है।
(५) स्यादस्ति अवक्तव्य च— है और अवाच्य है।
(६) स्यान्नास्ति अवक्तव्य च— नहीं है और अवाच्य है।
(७) स्यादस्ति नास्ति, अवक्तव्य च— कथंचित् है, नहीं है और अवाच्य है।

इन सातों प्रकार के समूह को सप्तभंगी कहा जाता है। इन सातों वाक्यों का मूल विधि और प्रतिषेध है इस कारण बहुत से विद्वान् इसको विधि प्रतिषेध मूलक पद्धति के नाम से भी पुकारते हैं। इस प्रकार यह सप्तभंगी जैन दर्शन की ही अपनी विशेषता है। भारत के अन्य किसी भी दर्शन में इस प्रकार का क्रमबद्ध सप्तभंगी का वर्णन नहीं मिलता। हां वैदिक दर्शन में सत् असत् उभय और अनिर्वचनीय भंगों का वर्णन मिलता है जिससे जैनदर्शन के मन्तव्य की पुष्टि होती है। बौद्ध धर्म भी अनेकान्त दर्शन से बहुत प्रभावित रहा है। बौद्ध दर्शन में चतुष्कोटि के नाम से प्रसिद्ध जो सत्, असत्, उभय और अनुभय का यत्र तत्र वर्णन मिलता है वह इस सत्य का पोषक है। सप्तभंगी का वर्णन करते हुए सुयोग्य विद्वान् पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री लिखते हैं कि —

"जब* हम किसी वस्तु को सत् कहते हैं तो हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि उस वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से ही उसे सत् कहा जा सकता है। पर वस्तु के स्वरूप की अपेक्षा से दुनियां

* जैन दर्शन का स्याद्वादांक पृ० ६२।

प्रत्येक वस्तु असत् है। देवदत्त का पुत्र दुनिया भर के मनुष्यों का पुत्र नहीं है और न देवदत्त संसार भर के पुत्रों का पिता है। यदि देवदत्त अपने को संसार भर के पुत्रों का पिता कहने लगता तो उस पर वह मार पड़े जो जीवन भर भुलाए से भी न भूले। क्या इससे हम यह नतीजा नहीं निकाल सकते हैं कि देवदत्त पिता है नहीं भी है। अतः संसार में जो कुछ 'है' वह किसी अपेक्षा से नहीं भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु हो नहीं सकती। इसी अपेक्षावाद का सूचक स्यात् शब्द है जिसे जैनतत्त्वज्ञान अपने वचन व्यवहार में प्रयुक्त करता है। इसी को दार्शनिक भाषा में स्यात् सत् और स्यात् असत् कहा जाता है।

शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है अतः प्रत्येक वस्तु में दोनों धर्मों के रहने पर भी वक्ता अपने २ दृष्टिकोण से उनका उल्लेख करते हैं। जैसे दो आदमी सामान खरीदने के लिये बाजार जाते हैं वहां किसी वस्तु को एक अच्छी बतलाता है, दूसरा उसे बुरी बतलाता है। दोनों में बात बढ़ जाती है तब दुकानदार या कोई राहगीर उन्हें समझाते हुए कहता है—भाई! क्यों झगड़ते हो? यह चीज अच्छी भी है और बुरी भी है। तुम्हारे लिये अच्छी है और इनके लिये बुरी है। अपनी २ निगाह ही तो है। ये तीनों व्यक्ति तीन तरह का वचन व्यवहार करते हैं—पहला विधि कहता है, दूसरा निषेध और तीसरा दोनों।

वस्तु के उक्त दोनों धर्मों को यदि कोई एक साथ कहने का प्रयत्न करे तो वह कभी भी नहीं कह सकता। क्योंकि शब्द एक समय में एक ही धर्म का कथन कर सकता है। ऐसी दशा में वस्तु अवाच्य कहा जाता है। उक्त चार वचन व्यवहारों को दार्शनिक भाषा में

"स्यात् सत्", "स्यात् असत्", "स्यात् सद् असत्", और स्यादवक्तव्य कहते हैं। सप्तभंगी के मूल यही चार भंग हैं। इन चारों में से चतुर्थ भंग के साथ क्रमशः पहले दूसरे और तीसरे भंग को मिलाने से पाँचवाँ, छठा और सातवाँ भंग बनता है।"

समन्वय।

मैं पहले भी कहता रहा हूँ कि अनेकान्तवाद ने संसार को पारस्परिक प्रेम और संधि का संदेश दिया है। जब कभी अन्य धर्मों के अनुयायी अपनी अपनी एकान्त दृष्टि से किसी साम्प्रदायिक सिद्धान्त पर झगड़े हैं तो अनेकान्तवाद उनकी सुलह कराता रहा है। वह सदा से यही कहता आया है कि एकान्तवाद में वस्तु तत्त्व का सत्य निरूपण नहीं हो सकता। उदाहरण के लिये वस्त्र को लीजिये। बौद्धदर्शन में 'सर्वं क्षणिकं सत्वात्' इस प्रधान नियम के अनुसार 'वस्त्र' सदा क्षणिक रहता है। बौद्धदर्शन के सर्वथा विपरीत सांख्य दर्शन उसी वस्त्र को सर्वथा अविनाशी और नित्य मानता है। इन दोनों के विरोध का निर्णय किस प्रकार हो? इस समय में अनेकान्तवाद का सिद्धान्त ही दोनों के विवाद की गुत्थियों का समाधान करके दोनों में संधि करवाता है। वह ऐसा निष्पक्ष निर्णय देता है जो दोनों को मान्य हो।

अनेकान्त दो दृष्टियों से तत्त्व व्यवस्था करता है। पहली द्रव्य दृष्टि है जो वस्तु को नित्य सिद्ध करती है। द्रव्य का कभी नाश नहीं होता। दूसरी पर्याय दृष्टि है जो उसे अनित्य बताती है। पर्याय दृष्टि से जब हम वस्त्र की ओर ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि वही वस्त्र जो कुछ काल पूर्व नवीन माना जाता था उत्तरोत्तर क्षीण अवस्था ... पुराना कहलाने लगता है। कोई भी वस्तु सर्व

जाता है तो उसका जीर्णपना एक ही दिन के परिवर्तन का परिणाम नहीं होता किन्तु सूक्ष्मरूप से वह वस्त्र प्रतिक्षण जीर्ण होती रहती है जिसका हमें पता नहीं चल पाता। जब वह पूर्णता से जीर्ण होजाती है तब हम उसे चक्षु इन्द्रिय से देख पाते हैं। अतएव पर्याय दृष्टि से विचार करने पर बौद्धों का वस्त्र को क्षणिक मानने का मन्तव्य ठीक सिद्ध होता है।

उसी वस्त्र को जब हम द्रव्य की दृष्टि से देखते हैं तो उसे अविनाशी पाते हैं। जिन परमाणुओं से वह वस्त्र बना है वे नाशवान् नहीं हैं। उनके आकार में परिवर्तन भले ही होता रहे किन्तु द्रव्य का नाश कभी नहीं होता। इस कारण द्रव्य दृष्टि से वही वस्त्र नित्य सिद्ध होता है जो पर्याय की दृष्टि से अनित्य था। इस प्रकार नित्य और अनित्य ये दोनों धर्म वस्त्ररूप वस्तु के अंश हैं। पूर्ण वस्तु नित्यानित्यात्मक है। इस प्रकार जैन धर्म ने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त से बौद्ध और सांख्यमतानुयायियों के विरोध को शान्त कर दिया और निष्पक्ष व्यवस्था दी जो दोनों को मान्य हो।

इस तरह अनेकान्तवाद अपना निष्पक्ष निर्णय देकर अन्य धर्मों के सैद्धान्तिक कलह को मिटाता रहा है। अन्य धर्मों में समन्वय कराना अनेकान्तवाद का उद्देश्य रहा है। यदि संसार ने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को भली भांति समझा होता और उसका पालन किया होता तो संसार का इतिहास धर्म के नाम पर होने वाले भयानक रक्तपात और घोर अत्याचारों से कभी दूषित न होता। आजकल भी जो धर्म के नाम पर अनेक वाद विवाद और झगड़े होते रहते हैं उनका अन्त भी अनेकान्त दर्शन की शरण में जाकर ही हो सकता है। अनेकान्तवाद संसार को शान्ति और प्रेम का सन्देश देता है।

स्याद्वाद के वर्त्तमान अनुयायी।

यह तो हुआ समाज के प्रति स्याद्वाद का संदेश और उपयोग। अब देखना यह है कि जिस धर्म का यह दर्शन है उस के वर्त्तमान अनुयायियों ने इस को किस प्रकार समझा है? क्या वे इस का उपयोग और पालन कर रहे हैं? क्या वर्त्तमान जैन धर्मानुयायी अनेकान्तवाद के वास्तविक सार और महत्त्व को समझते हैं और उस का पालन करते हैं? क्या जैन समाज में किसी भी सामाजिक या [illegible] क्षेत्र में कार्यरूप से इस सिद्धान्त की शरण ली जाती है? [illegible] का उत्तर निराशाजनक ही मिलता है। दूसरों को एक [illegible] से रोकने वाले आज हम स्वयं एकान्तवादी बने बैठे हैं। इतर धर्मों का समन्वय कराने वाले आज हम अपने ही धर्म का समन्वय नहीं कर पाते। सच पूछो तो दूसरों के सामने अपने [illegible] की महिमा गाने वालों ने ही आज अपने दर्शन की दुर्दशा कर डाली है। मूर्तिपूजक, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरहपंथी, यति और [illegible] आदि जैन धर्म के अनेक सम्प्रदाय और [illegible] भीषण वैमनस्य, विद्वेष और कटुता बढ़ रही है। एक ही महापुरुष के पुत्र होकर भी सब एक दूसरे को शत्रु समझते हैं। एक शाखा के अनुयायी दूसरी शाखा वालों को मिथ्यात्वी कहते हैं और आज के सुधारक विद्वानों और मुनिराजों की [illegible] एक दूसरे की निन्दा करने में नष्ट होती है। प्रायः सब एकान्तवाद की पकड़ बैठे हैं जिसका परिणाम ही वैमनस्य और द्वेष का वृद्धि करना होता है। फूट का [illegible] साम्राज्य है जो दिन प्रतिदिन समाज की जड़ों को खोखला [illegible] है। भगवान् महावीर के [illegible] उपासक होते हुए भी [illegible] स्थान में [illegible] नहीं [illegible] सकते।

म एक सम्प्रदाय के अनुयायी दूसरी सम्प्रदाय के साधुओं को आहार पानी तक देने को रोकते हैं। सौगन्दें दिलाई जाती हैं और नियम तक करवाए जाते हैं। मूर्तिपूजक की कन्या यदि स्थानकवासी के यहां विवाही जाय या स्थानकवासी की मूर्तिपूजक के यहां विवाही जाये तो साम्प्रदायिक भिन्नता के कारण उस कन्या से बुरा व्यवहार तक करने से संकोच नहीं किया जाता। खुल्लम खुल्ला एक दूसरे को भड़काने वाले व्याख्यान देते हैं। एक दूसरे को काफ़िर ठहराते हैं, वाड़काट करते हैं और जाति से बहिष्कार तक करने में तुल जाते हैं। कहां तक लिखा जाय जैन समाज में आज जितनी फूट है शायद ही अन्य किसी जाति या धर्म में होगी। क्या यही अनेकान्तवाद की शिक्षा है? क्या इसी प्रकार अनेकान्तवाद का जीवन में उतारा जाता है? क्या यही अनेकान्तवाद का मर्म और सन्देश है? क्या अनेकान्तवाद के महत्त्व का प्रकट करने का यही उत्तम ढंग है? क्या दूसरों के सामने अनेकान्तवाद के आदर्श को प्रकट करने का यही सुन्दर प्रकार है? कितनी लज्जा की बात है हमारे लिये कि विश्व को समन्वय और शान्ति से भरा हुआ अनेकान्तवाद का सन्देश देने वाले जैन धर्म के अनुयायी आज स्वयं एकान्तवादी बने बैठे हैं। जिसका पालन हम स्वयं नहीं कर रहे, दूसरों से उसका पालन करवाने की आशा कैसे कर सकते हैं।

संगठन की आवश्यकता।

अब भी समय है और भूलें सुधारी जा सकती हैं। सारा संसार आगे बढ़ रहा है और हम पीछे हट रहे हैं। आखिर कितनीक है संख्या हमारी? बहुत थोड़ी है और उसमें भी इतने सम्प्रदाय और शाखाएं। इतनी बड़ी फूट! यदि यही दशा और कुछ काल तक चलती रही तो जैन समाज पतन के गर्त से बच नहीं सकेगा। संसार

के बड़े २ राष्ट्र और शक्तियाँ सगठित हो रही हैं। सङ्गठन के बिना वर्तमान युग में बड़े २ राष्ट्र भी अपने आपको निर्बल पाते हैं। फिर अल्प सी सख्या वाले हम! इतने बड़े विश्व में क्या है हमारी हस्ती, कभी सोचा आपने? और फिर इतनी अल्प सख्या में इतनी बड़ी फूट और भेदभाव! अब छोटे २ सब भेदभावों को मिटाने का समय है। यदि इन्हें न मिटाया गया तो भयानक पतन अवश्यम्भावी है। अब सङ्गठित होने का समय है। सङ्गठित जाति या धर्म ही ससार में अपनी सत्ता कायम रख सकेगा। समाज की सारी शक्तियाँ जो आज में पारस्परिक क्षुद्र कलह और वितण्डावाद में लगाई जाती हैं उन्हें समाज के सुन्दर और सुव्यवस्थित निर्माण में लगाना चाहिये। तीर्थङ्कर दिगम्बर थे या श्वेताम्बर थे। कोई मन्दिर में जाकर उनकी पूजा करे, या मूर्तिपूजा को ठीक न समझे, कोई मुखवस्त्रिका को हाथ में रक्खे या उसको मुख पर बाँध ले, मुखवस्त्रिका का आकार बड़ा हो या छोटा आदि अनेक साधारण बातों को प्रधानता या महत्त्व देकर उनके लिये कलह या विवाद करने का समय नहीं है। अब आवश्यकता है यह समझने की कि तीर्थङ्करों को मानने वाले, जैन सस्कृति को पालने वाले और अनेकान्तवाद में श्रद्धा रखने वाले सब जैन समान हैं। जैन ही क्यों, ससार का प्रत्येक मानव जो उपर्युक्त बातों में श्रद्धा रखता है और उनका पालन करता है वह जैन है। अनेकान्तवाद की शरण जाकर यदि हम इस प्रकार की विशालता दिखाएँगे तभी हम अपने खोए हुए गौरव को पाने में समर्थ हो सकेंगे।

सकुचित वातावरण।

आजकल जैन समाज में बहुत सकुचित वातावरण फैला हुआ है। जब दो जैन भाई आपस में मिलते हैं तो सबसे पहला प्रश्न जो

एक दूसरे से पूछता है वह है — आप कौनसी सम्प्रदाय का मानते हैं? दिगम्बरी हैं, श्वेताम्बरी हैं या तेरह पंथी हैं?' इत्यादि यदि दोनों एक ही सम्प्रदाय के निकले तब तो ठीक वरन् उन दोनों का केवल जैन होना उनको एक ही प्रेमसूत्र में नहीं बांध सकता। यहीं तक नहीं एक ही सम्प्रदाय के होकर भी यदि दोनों के गुरु भिन्न हुए तो भी वे एक दूसरे से पीठ मरोड़ कर ही चलते हैं। कितनी छोटी और क्षुद्र बातें हैं ये। क्या इसी प्रकार के आचरण से जैन समाज को उन्नति पथ पर लाने की सम्भावना की जा सकती है? वर्तमान जैन समाज के प्रायः जितने सुधारक और प्रचारक हैं उन सबका ध्यान एकमात्र बाड़े बन्दियों की ओर लगा हुआ है। सारे जैन समाज का हित किस बात में है इसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। कोई यह सोचने का कष्ट नहीं करता कि इन बाड़े बन्दियों से सारे जैन समाज का कलेवर क्षीण होता जा रहा है और उसका फल सारा जैन समाज भुगत रहा है। कोई भी इस एकान्तवाद के भीषण परिणाम पर ध्यान नहीं देता। यदि देता होता तो इस प्रकार उत्तरोत्तर गुटबन्दियों की अभिवृद्धि न हो पाती। इन गुटबन्दियों के कारण समाज के लाखों रुपये पारस्परिक झगड़ों के परिणामभूत मुकदमों को लड़ने में व्यय किये जाते हैं। इस प्रकार समाज सुधार पर धन को न लगा कर उसका दुरुपयोग किया जाता है या दूसरे शब्दों में समाज को बिगाड़ने के लिये धन खर्च किया जाता है। वही धन यदि समाज में शिक्षा प्रचार और साहित्य उन्नति पर खर्च किया जाता तो कितना उपकार और लाभ होता किन्तु इन बातों की ओर ध्यान देने की फुरसत किसको मिलती है, झगड़ों से समय बचे तब न। अस्तु, हमें इन सब बातों को छोड़ना होगा। समाज में सङ्कुचित वातावरण पैदा करने वाली सब शक्तियों का नाश करना परमावश्यक है ऐसा करने से ही हम अनेकान्तवाद की विशालता की ओर बढ़ सकते हैं।

अन्त में मैं अपने भाइयों से यही प्रार्थना करूंगा कि यदि वे जैन संस्कृति को पुनरुज्जीवित करना चाहते हैं तो सब साम्प्रदायिक मतभेदों और गुटबन्दियों को मिटा दें और जैन समाज में संगठन पैदा करके उस की उन्नति के लिये कटिबद्ध हो जाएं। ये छोटी २ बातों को दूर कर समाज के सच्चे सुधार क्षेत्र में उतरें, अनेकान्त का पहले स्वयं पालन करें और फिर उस का उपदेश पूर्ववत् संसार को दें। जैन धर्मावलम्बी आज अपने धर्म को, अपनी संस्कृति को और अपने दर्शन को भूल गए हैं। वे नाममात्र के जैनी रह गए हैं। उन को चाहिये कि वे विश्व को शांति और संगठन का संदेश देने वाले अपने अनेकान्त दर्शन को समझें और उसको जीवन में उतारें। अनेकान्तवाद के पालन से ही सबका कल्याण होगा।



श्रमण-संस्कृति में ईश्वर का स्थान

संसार के सब तत्त्वों और रहस्यों में ईश्वर ही सबसे अधि
दुरवगाह्य तत्त्व और रहस्य है। एक ही तत्त्व की खोज और ज्ञान
लिये जगत् में अनेक धर्म, सम्प्रदाय और सिद्धान्तों की सृष्टि भी ईश्वरी
गूढ़ तत्त्व को सिद्ध करता है। आस्तिकवाद से सम्बन्ध रखने वाले
दूसरे शब्दों में कर्मसिद्धान्त को मानने वाले संसार के प्रायः सभी ध
और सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता को मानते ही हैं
वे ईश्वर के लक्षण, गुण या परिभाषाएं भले ही अपने २ दृष्टिकोण
भिन्न २ करते हों और मानते हों किन्तु उसकी सत्ता के विषय
किसी का भी विवाद नहीं है। नीचे लिखे उद्धरण से ईश्वर के विष
में अनेक धर्मों और सम्प्रदायों की श्रद्धा का भली प्रकार प
चलता है —

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः,
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

अर्थात्-जिस ईश्वर को शिवोपासक शिव रूप में, वेदा
लोग ब्रह्म रूप में, बौद्ध बुद्ध रूप में, प्रमाणपटु नैयायिक कर्ता रूप
जैनशासन को मानने वाले जैन अर्हन् के रूप में, और मीमांस

इस रूप में मानते हैं जैसा तीन लोकों का स्वामी ईश्वर तुम्हारी इच्छा का अनुसरण करे।

अनेक धर्मों और सम्प्रदायों ने ईश्वर को अपने २ सिद्धान्तों में किस प्रकार ऊँचा रक्खा है उनकी सत्ता में सभी निष्ठा मानी है और उसके लक्षण और रचना में कितना अन्तर किया है यह भाव पुस्तक में उपर्युक्त कथन से स्पष्ट समझ आ सकता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि उपासना के प्रकार भिन्न २ होते हुए भी ईश्वरीय सत्ता के विषय में कोई सन्देह नहीं। इसी मन्तव्य की पुष्टि भगवान् कृष्ण गीता में भी अर्जुन को उपदेश देते हुए कहते हैं कि जो लोग जिस किसी रूप में भी मेरी उपासना करते हैं उनको मैं उसी रूप में मिलता हूं। जिस प्रकार एक ही नदी से अनेक प्रवाह बन जाते हैं और अन्त में वे सब अन्तिम लक्ष्य सागर में जा मिलते हैं इसी प्रकार भिन्न २ धर्मों और सम्प्रदायों के ईश्वर की उपासना के मार्ग अनेक अवश्य हैं किन्तु ईश्वर का अन्तिम लक्ष्य सबका मानने तक ही है।

ईश्वर विषयक ज्ञान की उत्पत्ति का मूल।

मानव जाति किस प्रकार भिन्न २ अवस्थाओं और परिस्थितियों में से गुजर कर उत्तरोत्तर विकास और उत्थान की ओर बढ़ी इसका बहुत कुछ पता हम विश्व के प्राचीन इतिहास से चलता है। मनुष्य प्रकृति से अब तक सदा से पूर्णता की ओर बढ़ने का प्रयत्न करता आया है। यह मनुष्य ने ही ऐसा नहीं रहा जैसा वह आज है किन्तु उनका आज का ज्ञान अनेक सदियों के निरन्तर प्रयत्न का ही परिणाम है। इस ज्ञान के उपार्जन के लिये कई बार उसको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा किन्तु पूर्णता की ओर उसकी चेष्टा

लगन ने मनुष्य को निराश नहीं होने दिया। जिस प्रकार का संघर्ष वह आज कर रहा है इसी प्रकार अनादि काल से करता आया है, अन्तर केवल इतना है कि आज का संघर्ष भौतिकवाद की ओर है और प्राचीन समय आध्यात्मिक तत्व की ओर था, अस्तु यहां पाठकों के लिये यह दर्शाना है कि जिस समय मनुष्य के मस्तिष्क का विकास होना प्रारम्भ हुआ उस समय जब २ मानवी बुद्धि प्राकृतिक रहस्यों को न समझ पाई तो उसमें अनेक प्रकार के तर्क वितर्क उठने लगे। प्रकृति के गूढ़ रहस्य बड़े जटिल थे और उनका समझ लेना असम्भव नहीं तो नितान्त कठिन अवश्य था। मानव ने सूर्य के तेज चन्द्रमा की शीतल चांदनी तारागण से परिपूर्ण नभमण्डल, क्षितिज की रेखा तक फैले हुए महासागर हरे भरे विस्तृत अरण्य और गगनचुम्बी पर्वतों को, और अपना मस्तिष्क दौड़ाया और उनमें जीवन की सुन्दरता और मानवता के माधुर्य को व्यापक रूप में पाया। प्रकृति की इन विभूतियों में उसने आकर्षण ही आकर्षण भरा पाया। इन प्राकृतिक आकर्षणों के कारण वह जीवन के महत्व को उत्तरोत्तर और अधिक समझने लगा और सांसारिक सुख के लिये उसकी तृष्णा बढ़ने लगी। किन्तु इस सुखद अनुभव के साथ २ मनुष्य ने ज्वालामुखी पर्वतों का फटना, घनघोर आकाश की भयानक गर्जना और उनसे विद्युत् पतन, अतिवृष्टि के कारण जल प्रलय और महामारी आदि अनेक भयङ्कर रोगों की उत्पत्ति आदि अनेक विश्व का विध्वंस करने वाले प्राकृतिक कोप और विपत्तियों को देखा और उनका कटु अनुभव किया। प्राकृतिक बाधाओं का सामना करने की बात तो दूर रही उनके वास्तविक रहस्य को समझना भी उसके लिये कठिन हो गया। मनुष्य ने अपना मस्तिष्क लड़ाया और प्रकृति के रहस्यों को समझने का पूर्ण प्रयत्न किया। किंतु वे रहस्य शीघ्र ही समझ में आने वाले नहीं थे। उनके समझने के लिये दीर्घ समय की आवश्यकता थी।

अनेक प्रश्नों की उत्पत्ति।

मानव सोचने लगा कि संसार में जहां अनेक पदार्थ आकर्षक हैं वहां भयावह पदार्थों की भी कमी नहीं। जीवन में माधुर्य है तो कड़वापन उससे भी अधिक दिखाई पड़ता है। संसार में सुख है तो दुःख का भी अन्त नहीं। आज जहां सृष्टि फली फूली है कल वहां किसी प्राकृतिक कोप से संहार हो जाता है। कुछ क्षण पूर्व ही जो लोग मुस्कराते थे कुछ क्षण बाद ही वे रोते चिल्लाते दिखाई देते हैं। आज जो क्रीड़ास्थान है अल्प समय के पश्चात् ही वह श्मशान घाट बन जाता है। आज जहां रंगरलियां मनाई जा रही हैं कल वहां उजाड़ हो जाता है। एक घर में जीवन की कलियां खिल रही हैं तो दूसरे पड़ोस के ही घर में मृत्यु की भयानकता दृष्टिगोचर होती है। यह सब क्यों? संसार में इतनी बड़ी विषमता क्यों? क्या इस प्रकार के विषमतापूर्ण विश्व को किसी शक्तिविशेष ने पैदा किया था या यह किसी ने उत्पन्न नहीं किया किन्तु अनादिकाल से ऐसा ही था और ऐसा ही चला आया है? यदि किसी शक्तिविशेष ने संसार को उत्पन्न किया तो ऐसी भयानक विषमता क्यों रखी? यदि इस का कर्ता या संचालक कोई नहीं तो इस की नियमित व्यवस्था किस प्रकार चल रही है? क्या यह विश्व की मर्यादित व्यवस्था भी अनादिकाल से स्वयमेव चली आ रही है? यह दृश्यमान चराचर संसार क्या इसी रूप में ... या इस का कभी प्रलय से संहार भी हो जाता है? यदि ... हो जाता है तो क्या यह स्वयं हो जाता है या उसका भी कोई कर्ता है? इन सारे प्रश्नों के ... मानव के मस्तिष्क में विचार ... कई आन्तरिक प्रश्न ... वह सोचने लगा कि इस ... रहस्य से आविर्भाव ... इस दृश्यमान ... का अनुभव करता है

यह अहङ्कार तत्व भी इस संसार के अन्य पदार्थों की भाँति उत्पन्न और नाश होता है या यह अनादि और अविनाशी तत्व है ? यदि यह तत्व अनादि और नित्य है तो उस का सम्बन्ध संसार के सादि अनित्य या नाशवान् पदार्थों से क्यों और कैसे सम्बन्ध हुआ ? इस प्रकार अनेक जटिल और दुरधिगम्य प्रश्न मानवी बुद्धि के विकास काल में मानव के मस्तिष्क में उत्पन्न हुए। विश्व के भिन्न २ प्रदेशों के मानवों ने इन प्रश्नों का मनन किया और विश्व के बाह्य तथा आन्तरिक रहस्यों को समझने के लिये पूर्ण प्रयत्न किया। अनेक युगों के चिन्तन और मनन के पश्चात् मनुष्य ने आत्म तत्व के रहस्य को समझा और ईश्वरीय सत्ता की स्थापना हुई। दीर्घकाल के मनन के पश्चात् मानव इस निर्णय पर पहुंच गया कि इस बाह्य संसार से परे आन्तरिक संसार में कोई सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् सत्ता है जिसको ईश्वर कहना चाहिये। उस सत्ता का जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है संसार के भिन्न २ धर्मों के विद्वानों और आचार्यों ने अपने २ भिन्न २ दृष्टिकोण से अवश्य माना किन्तु ईश्वर की सत्ता को सबने स्वीकार किया। संसार के धर्मों और सम्प्रदायों की संख्या तो बहुत बड़ी है और उन सबकी ईश्वर विषयक मान्यता यहां नहीं दी जा सकती। यहां तो केवल वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों भारत के महान् धर्मों के ईश्वर विषयक मन्तव्य ही संक्षेप से दिये जाएंगे।

वैदिक मन्तव्य।

वैदिक धर्म भारत का एक विशाल और व्यापक धर्म रहा है। अतिप्राचीन वैदिक संस्कृति के आधार पर ही वैदिक धर्म से अनेक नए सम्प्रदाय निकले और नई २ दार्शनिक शाखाओं का जन्म हुआ। उन सम्प्रदायों और शाखाओं की संख्या तो बहुत बड़ी है अतः उन

इस पर यहां विस्तारभय से नहीं लिखा जा सकता। यहां तो पाठकों के साधारण ज्ञान के लिये केवल वेद, वेदान्त दर्शन, सांख्य और न्याय दर्शन के ईश्वर विषयक मन्तव्यों पर ही संक्षेप से प्रकाश डाला जायगा।

वेद में ईश्वर सत्ता।

वैदिक धर्म का सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद है। चारों वेदों में भी ऋग्वेद ही प्राचीनतम है। इस वेद के अध्ययन से यह तो स्पष्ट है कि इसके रचनाकाल के या मान्यता के समय ईश्वर विषयक खोज का इतना प्राबल्य नहीं था जितना कि बाद में हुआ। हां ऋग्वैदिक काल में लोगों के ईश्वर के विषय में और सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में क्या विचार थे वे भलीभांति समझे जा सकते हैं। उस काल में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों पदार्थों को अनादि माना जाता था। नीचे लिखा मन्त्र इसकी साक्षी देता है —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

अर्थात्– *जैसे दो समान आयु वाले और मित्रतायुक्त पक्षी एक वृक्ष पर बैठते हैं, इसी प्रकार दो अनादि और मित्रतायुक्त आत्मा अर्थात्–जीवात्मा और परमात्मा अनादि प्रकृति में रहते हैं। इन दोनों में से एक (अर्थात् जीवात्मा) इस प्रकृतिरूपी वृक्ष के फल को चखता है (अर्थात्–सुख दुःख भोगता है या भौतिक शरीर में बंधने का परिणाम है) और दूसरा परमात्मा इसके फल को न खाता हुआ (अर्थात्–सुख दुःख न भोगता हुआ) सब कुछ देखता हुआ प्रकाशमान् हो रहा है।'

* धर्म का आदि स्रोत पृ० १३८

सत्य की पुष्टि आगे चलकर उपनिषदों ने भी की है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है कि —

यथोर्णनाभि सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि, तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥

अर्थात्—जिस प्रकार मकड़ी जाले को अपने शरीर में से बनाती है और अन्त में फिर उस जाले को अपने में ही आकुञ्चित कर लेती है और जैसे पृथ्वी से अनेक प्रकार की औषधियें पैदा होती हैं और अन्त में सभी पृथ्वीरूप हो जाती हैं जैसे चेतन पुरुष से केशादि की उत्पत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार अक्षर, अविकृत और अविनाशी ईश्वर से सारे विश्व की उत्पत्ति होती है और अन्त में सारा विश्व उसी ईश्वर में लीन होजाता है।

वेदान्त दर्शन में ईश्वर।

वैदिक धर्म की जितनी भी दार्शनिक शाखाएं हैं उन में वेदान्त दर्शन के सिद्धान्त का स्थान बहुत ऊंचा है। वेदान्तदर्शन में आत्म तत्त्व और परमात्मतत्त्व की जो खोज की गई है वह बड़ी गंभीर है और वैदिक धर्म में वेदान्त मान्यता के अनुयायी चिरकाल से बहुत बड़ी संख्या में रहे हैं। जब सारा भारतवर्ष महात्मा बुद्ध के प्रभाव में बौद्ध धर्मावलम्बी होगया था उस समय वेदान्तदर्शन के महान् विद्वान् स्वामी श्री शंकराचार्य ने वेदान्तदर्शन प्रचार करके ही पुनः भारत में व्यापक रूप से वैदिक धर्म की स्थापना की थी। अस्तु, वेदान्त दर्शन की द्वैतवाद और अद्वैतवाद नाम की दो बड़ी शाखाएं हैं। ईश्वरीय या ब्रह्म की सत्ता को दोनों मानते हैं किन्तु दोनों में सैद्धान्तिक भेद काफी है।

दोनों के मन्तव्यों के संक्षिप्त निर्देश से पाठक स्वयं सैद्धांतिक भिन्नता को समझ जाएंगे।

द्वैतवाद।

द्वैतवादियों का कहना है कि यदि हम कहें कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है तो हम निषेधात्मक वाक्य से ही ईश्वर का होना सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अद्वैत शब्द में ही द्वैतवाद की सिद्धि हो जाती है। ज्ञान सदैव द्वैत है क्योंकि वह ज्ञाता और ज्ञेय में रहता है। ज्ञाता का अन्योन्य भिन्न सम्बन्ध है। द्वैतवादियों की मान्यता के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों भिन्न शक्तियाँ हैं। उन का कहना है कि परमात्मा जीव के ज्ञान का विषय है।

अद्वैतवाद।

६ अद्वैतवादियों का कहना है कि यदि परमात्मा को आत्मा के ज्ञान का विषय मान लिया जाए तो यह आवश्यक है कि परमात्मा आत्मा में समक्ष विषयरूप हो कर उपस्थित होगा। यदि वह विषय है तो प्रश्न यह उठता है कि वह आत्मा के अंतर में किस रीति से रहता है? विषय और विषयी एक लकड़ी के दो छोरों के समान पृथक् २ होते हैं। एक छोर का दूसरे छोर के अंतर में आना सर्वथा असंभव है। अतएव परमात्मा को जीवात्मा का विषय न मान कर जीवात्मा का अंतरतम आत्मा मानना चाहिये। अद्वैतवाद की मान्यता के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। उन का कहना है कि 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात्- जीव साक्षात् ब्रह्म ही है। संसार में ही शक्ति ... कर्म हमें अनेक दिखाई देते हैं। इसे

है किन्तु भिन्न २ पार्थिवांश का संयोग होने से भिन्न २ रूप को धारण करता है। वही जल निम्बू के पौधे को दिया हुआ खट्टा हो जाता है, अंगूर की लता को सींचने से मीठा हो जाता है और अफीम के पौधे में जाकर कटु हो जाता है किन्तु जल वास्तव में एक ही है। चन्द्रमा एक ही है किन्तु तालाब नदी और समुद्रादि में प्रतिबिम्ब पड़ने से अनेक भासता है। ठीक इसी प्रकार एक ही ब्रह्म भिन्न २ जीवों के रूप में अनेक भासता है। जीवात्मा के लिये इस संसार का अस्तित्व तभी तक है जब तक वह अविद्या या माया के आवरण से आच्छादित है। उस आवरण के दूर होते ही वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। यही अद्वैतवाद है।

सांख्य में प्रकृति और पुरुष।

वेदान्त दर्शन में जिस प्रकार ब्रह्म और माया की प्रधानता है इसी तरह से सांख्यदर्शन में प्रकृति और पुरुष की प्रधानता है। अखिल चर और अचर, सृष्टि और संहार का विवेचन करने के पश्चात् सांख्य इस निर्णय पर पहुंचता है कि अन्त में पुरुष और प्रकृति ये ही दो स्वतन्त्र तथा अनादि मूलतत्त्व अवशिष्ट रहते हैं। पुरुष को मोक्ष प्राप्ति तथा संसार दुःखों की निवृत्ति के लिये प्रकृति से अपने भिन्नता जानना आवश्यक है और त्रिगुणातीत होना परमावश्यक है। जैसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ विचार के परिणामस्वरूप द्रष्टा या पुरुष का निश्चय होता है इसी प्रकार क्षर एवं अक्षर जगत् के विचार के परिणाम स्वरूप सत्व, रज, तम इस त्रिगुणात्मक प्रकृति का ज्ञान होता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों तत्त्व एक दूसरे से भिन्न हैं। पुरुष चेतन है और प्रकृति जड़ है। चेतन पुरुष का जड़ प्रकृति के साथ संयो

[illegible]ान में इस परिदृश्यमान जगत् की रचना [illegible] है। [illegible]
[illegible]ता एक ही है, किन्तु त्रिगुणात्मक प्रकृति के [illegible]
[illegible]स्वरूप में भासता है। पुरुष निर्गुण है [illegible]
पुरुष के लाभ के लिये प्रकृति पुरुष के सामने [illegible]

बहुत से विद्वानों ने प्रकृति पुरुष [illegible] उन दोनों से परे परमात्म तत्व को [illegible] है कि प्रकृति और पुरुष ये परमात्म [illegible] वेदव्यास सांख्य का वर्णन करते हुए लिखे हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

अर्थात्—जो पुरुष और [illegible] उत्तम पुरुष है। उसी को परमात्मा [illegible] शक्तिमान् है। तीनों लोकों [illegible] है।

यहां प्रकृति और पुरुष [illegible] किया गया है जो दोनों से [illegible] पुरुषोत्तम है। इस प्रकार दर्शनशास्त्र के [illegible] प्रकृति, पुरुष और पुरुषोत्तम इनका क्रमशः [illegible] है।

न्याय शास्त्र में ईश्वर की परिभाषा

न्याय सिद्धान्त में ईश्वर निराकार, सर्वज्ञ [illegible] का फलदाता, नित्य [illegible] और नित्य ऐश्वर्य [illegible] परमकारुणिक और [illegible] विश्व के लिये [illegible]

कर्मनाग म, भक्तिमाग से योगमार्ग से और ज्ञानमार्ग स उपास्य है। श्रवण, मनन निदिध्यासन एव दर्शन भी इसकी उपासना के प्रकार हैं। सबकमप्रवर्तक उस ईश्वर के अनुग्रह के बिना मनुष्य का कोई कर्म भी सफल नहीं हो सकता। नैयायिकों का कहना है कि कर्म अचेतन है अतएव उसकी शक्ति का भी अचेतन होना स्वाभाविक है। अत किसी चेतन के अधिष्ठातृत्व के अभाव में कोई भी प्राणी किसी भी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकता। इसलिये कर्मफल देने के लिये ईश्वर की सत्ता का मानना परमावश्यक है। महर्षि गौतम लिखते हैं —

ईश्वर कारणं पुरुषकर्मफलदर्शनात्। (गौतम सूत्र)

अर्थात्—पुरुषों के अनेक कर्मफलों को देखते हुए हमें ईश्वर की कारणता का स्पष्ट ज्ञान होजाता है। इस मान्यता के विद्वानों का कहना है कि जीवात्मा में अधर्म, मिथ्याज्ञान और प्रमाद ये दोष होते हैं। जिस आत्मा में ये सब नहीं पाए जाते किन्तु इनके स्थान में धर्मज्ञान और समाधि पूर्णरूप से पाए जाते हैं वैसा आत्मा ही ईश्वर है। सन्तान के लिये जिस प्रकार पिता यथार्थवादी, हितोपदेष्टा और दयामय है उसी प्रकार ईश्वर भी सब भूतों के लिये पितृतुल्य हैं।

इस प्रकार वेद की मान्यता के अनुसार—ईश्वर अनादि है और सृष्टि का कर्ता है। वेदान्त में ब्रह्म और माया की व्यापकता, सांख्य में प्रकृति और पुरुष की प्रधानता, और न्यायशास्त्र में पुरुष के कर्मफलप्रदानार्थ ईश्वर की कारणता आदि संक्षिप्त विवरणसे पाठकों को भली प्रकार पता चल गया होगा कि वैदिक धर्म की इन भिन्न २ शाखाओं में ईश्वर का और विश्व के स्वरूप का किस प्रकार समझा है और उसका प्रतिपादन किया है। सबके सिद्धान्तों के मार्ग भिन्न २ होते हुए भी सब ईश्वरीय सत्ता रूपी एक ही लक्ष्य की ओर जाते हैं।

ऋक् युग के उदय काल से लेकर अब तक जगत्, जीव और परमात्मा इन तत्त्वों की खोज में मानवी बुद्धि कितनी प्रयत्नशील रही है यह भी उपर्युक्त भिन्न २ सिद्धान्तों के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है। बाह्य और आन्तरिक विश्व के गूढ़ प्रश्नों को समझने के लिये मानव का मस्तिष्क कितना परेशान होता रहा है और उसने अपनी उपज के अनुसार उन प्रश्नों का उत्तर कैसे दिया और ज्ञान की समस्याओं को कैसे सुलझाया यह विश्व के इतिहास से और अनेक धर्मों के धर्मग्रन्थों से भली-भांति समझ सकते हैं।

श्रमण-संस्कृति में ईश्वर।

जैनधर्म वैदिकधर्म के समान-ईश्वर को अनन्त शक्ति वाला सत्-चिदानन्दमय, सर्वज्ञ और अविनाशी तो मानता है किन्तु उसको जगत् का कर्ता और नियन्ता नहीं मानता है। जैनदर्शन आत्मा को अनादि मानता है। जिस प्रकार वेदान्त दर्शन में अविद्या के आवरण के दूर होने से ही जीवात्मा ब्रह्मरूप बन जाता है, इसी प्रकार जैनदर्शन के अनुसार जीवात्मा से कर्मों का आवरण दूर होते ही वह ईश्वररूप हो जाता है। आत्मा राग द्वेषादि से लिप्त होने के कारण अपना वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। और अपने भिन्न २ कर्मों के परिणामस्वरूप अनेक नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेता रहता है। जब उसकी विवेक शक्ति विकसित हो जाती है वह अपने सत्कर्मों द्वारा राग द्वेष के संस्कारों का नाश कर डालता है और कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है और फिर वही मुक्तात्मा सर्वज्ञ, आनन्दरूप और सर्वशक्तिमान् होकर परमात्मपद को प्राप्त होता है। जैनदर्शन की अनुसार ईश्वर जैसी स्वतन्त्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, किन्तु ईश्वर के समग्र गुण

में रहते हैं। इस लिये जैनधर्म के अनुसार प्रत्येक जीव में ईश्वरत्व पद प्राप्त करने की शक्ति रहती है। यदि जीव कर्मों के आवरण से दबी हुई उस शक्ति का विकास करले तो स्वयं ईश्वर बन जाता है। इस प्रकार जैनधर्म ईश्वर तत्त्व को वैदिकधर्म के समान भिन्न स्थान नहीं देता किन्तु ईश्वर तत्त्व को मान्यता रखता है और उसकी उपासना को भी मानता है। जो जो आत्माएं कर्मबन्धनों से मुक्त होती जाती हैं वे सभी समान रूप से ईश्वर पद को पाती हैं। अविद्या या कर्म के आवरण के दूर होने से जीवात्मा ही ब्रह्म या ईश्वर बन जाता है इस विषय में वेदान्त और जैनदर्शन दोनों एक मत हैं।

ईश्वर सृष्टिकर्ता क्यों नहीं ?

यह पहले भी बताया जा चुका है कि जैनधर्म ईश्वर को संसार का रचयिता और शास्ता नहीं मानता है। जो लोग ऐसा मानते हैं उनके प्रमाण और युक्तियें जैन दृष्टि से सारगर्भित नहीं हैं। ईश्वर को संसार का कर्ता और शास्ता मानने वाले कुछ विद्वानों का कहना है कि केवल ईश्वर ही शाश्वत और अनादि है। उसके बिना संसार की कोई वस्तु अनादि नहीं। इनमें से भी कुछ लोगों का तो कहना है कि पहले कोई चीज नहीं थी, केवल ईश्वर था। ईश्वर ने नहीं से या अभाव से ही सारे संसार की रचना कर डाली। दूसरे लोग कहते हैं कि ईश्वर ने अपने अन्दर से ही सारे संसार को उत्पन्न किया या बनाया। जैनधर्म के अनुसार ये दोनों मन्तव्य निःसार हैं। प्रकृति के अध्ययन से हमें पता चलता है कि संसार का कोई भी पदार्थ अभाव से पैदा नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ की कुछ पूर्वावस्था अवश्य होती है और किसी भी पदार्थ का सर्वथा अभाव नहीं होता।

संसार में हमें कोई उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जहां अभाव से किसी वस्तु की उत्पत्ति होती हो। अतः यह नहीं माना जा सकता कि ईश्वर ने संसार को अभाव से पैदा किया।

जो लोग यह कहते हैं कि ईश्वर ने अपने में से ही विश्व की रचना की उनकी मान्यता भी ठीक नहीं जचती। ईश्वर सर्वज्ञ है और पूर्ण है इस बात को सब स्वीकार करते हैं। उस सर्वज्ञ और पूर्ण ईश्वर से उत्पन्न हुआ २ यह संसार अल्पज्ञ और अपूर्ण कैसे हो सकता है? यदि ऐसा मान लिया जाय तो ईश्वर में भी अल्पज्ञता और अपूर्णता के दोष आ जाते हैं। फिर संसार का तो बहुत बड़ा भाग जड़ भी है, सर्वज्ञ चेतन भगवान् से जड़ की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है? इसके अतिरिक्त सृष्टि के आदि में जब ईश्वर ने सब आत्माओं को अपने में से निकाला तो उस समय सब आत्माएं ईश्वर में मिली होने के कारण सब प्रकार के कर्मबन्धनों से मुक्त थीं और इस कारण शुद्ध थीं। फिर उन सब आत्माओं को किस दोष या गुण के कारण भिन्न २ ऊँच या नीच योनियों में जाने के लिये बाध्य किया गया? इन प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता अतः यह सिद्ध है कि ईश्वर ने संसार की रचना अपने में से नहीं की।

इसके अतिरिक्त ईश्वर पूर्ण है और जहां पूर्णता होती है वहां किसी वस्तु की भी कमी नहीं हो सकती। यह तो पूर्णता शब्द से ही स्पष्ट है। इच्छा वहां पैदा होती है जहां किसी वस्तु की कमी हो। ईश्वर ने जब संसार को रचा तो उसने रचने की इच्छा अवश्य की होगी क्योंकि बिना इच्छा के संसार की रचना हो नहीं सकती। जब इच्छा हो गई तो ईश्वर में अपूर्णता आ जाती है। अतः यदि ईश्वर को संसार का रचयिता मानें तो वह पूर्ण नहीं कहला सकेगा।

जैनधर्म कहता है कि संसार अनेक प्रकार की भयानक महामारी आदि व्याधियां, भूकम्प, अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि प्राकृतिक प्रकोपों में होने वाली अकाल मृत्यु और अन्य महायुद्धादि अनेक भयानक आपत्तियों से भरा पड़ा है। सुख का अंश कम है किन्तु दुःख से पीड़ित प्राणियों का क्रन्दन चारों ओर सुनाई देता है। क्या सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने ऐसे संसार को उत्पन्न करना ही पसन्द किया? क्या वह सर्वशक्तिमान् होने हुए अपनी शक्ति से ऐसे संसार का उत्पन्न नहीं कर सकता था जो सुख, शान्ति और आनन्द से परिपूर्ण होता? ऐसी स्थिति में उसको भी नियन्त्रण करने की परेशानी न उठानी पड़ती। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने पहले तो संसार को अपूर्ण और शान्ति रहित बनाया और फिर उसके लिये पूर्णता तक पहुँचाने के लिये अनेक नियम धर्म बनाए। कोई साधारण बुद्धि रखने वाला व्यक्ति भी जान बूझ कर किसी वस्तु को पहले बुरी नहीं बनाता कि बाद में उसका सुधार करना पड़े। अतएव सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर ने यदि इस संसार को बनाया होता तो अवश्य ही यह पहले से ही पूर्ण और समर्थ होता।

कुछ विद्वानों का कथन है कि ईश्वर न ही संसार का कर्ता है और इस कारण वह संसार का जनक या पिता है। संसार में जो लोग दुःखी, रोगी, शोकाकुल और भूकम्पादि अकाल मृत्यु के ग्रास बनते हैं यह सब उनके पूर्व भव या इस भव में किए पापों का फल है जिसका भोग टल नहीं सकता। जिस प्रकार पिता सद्गुण वाले पुत्र को पुरस्कार देता है और दुष्कर्म करने वाले को अनुरूप दण्ड देता है इसी प्रकार ईश्वर पिता के अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार जीवों को फल देता है। सारे संसार का शासन और नियन्त्रण वही करता है।

यह मान्यता भी युक्ति की तराजू पर ठीक नहीं उतरती। सब और सर्वशक्तिमान् ईश्वर जैसा चाहता वैसा संसार बना सकता था। उसने आत्मा को बुरा कर्म करने की शक्ति ही क्यों दी? फिर उनको बुरा कर्म करने की शक्ति भी और जब वे उस शक्ति का प्रयोग करने लगे तो उनको दण्ड दिया। कोई भी पिता पहले अपने पुत्रों को बुरे कामों में प्रवृत्त कराए और फिर उन्हें दण्ड दे, भला यह भी कोई बुद्धिमत्ता कही जा सकती है। अच्छा पिता अपने पुत्रों में बुरा कर्म करने की प्रवृत्ति ही नहीं पैदा होने देगा।

जैन मन्तव्य।

जैनधर्म के अनुसार कर्मफल विधान के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं मानी जाती। जैनधर्म की मान्यता है कि शुद्ध ज्ञान और जड़ वस्तु ये दोनों अनादि काल से मिले हुए चले आते हैं। ये दोनों ही दृश्य संसार के उत्पन्न करने में कारण हैं। आत्मा का वास्तविक स्वरूप एक ही होता है चाहे वह शुद्ध हो या पुद्गल से मिला हो। सूक्ष्म भौतिक शक्तियों के रूप में अनन्त जड़ वस्तुओं से मिला हुआ है और इसी कारण आत्मा में राग द्वेषादि भाव पैदा होजाते हैं। ये विकार ही अच्छे या बुरे कर्मों के निमित्त कारण बनकर एक तरह से साधन बन जाते हैं, जिनके द्वारा कर्मों के परमाणु आकर आत्मा में मिलते हैं। आत्मा के साथ जड़ वस्तु के संयोग से एक प्रकार की शक्ति संचित होजाती है जिसका जब उदय होता है तो आत्मा में सुख दुःख उत्पन्न होने लगते हैं। जब यह संचित शक्ति समाप्त होजाती है तो जड़ वस्तु आत्मा से पृथक् होजाता है। और तब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है।

शक्तियों की निर्जरा होजाती है और आत्मा परमात्म पद को प्राप्त होता है।

सृष्टि की उत्पत्ति।

जैनधर्म के सिद्धान्त के अनुसार संसार की रचना सज्ञान और अज्ञान दो कारणों द्वारा होती है। या दूसरे शब्दों में छः द्रव्यों जीव या आत्मा, आकाश, काल, पुद्गल, धर्म और अधर्म इनके द्वारा होता है। इनमें से एक कारण तो जैसे जीव सज्ञान अर्थात् ज्ञानवाला है और शेष पाँच कारण अज्ञान अर्थात् जड़ हैं। इन छहों द्रव्यों या वस्तुओं के अनेक पर्याय गुण या स्वभाव से ही संसार की रचना होती है। सज्ञान कारण का स्वभाव ज्ञान लेना है और बाकी के पाँच जड़ हैं जो द्वार हैं। ये छहों द्रव्य अनादिकाल से विद्यमान हैं और रहेंगे। किसी खास समय में इनके संयोग से संसार की उत्पत्ति नहीं हुई किन्तु संसार अनादि है। इन छहों द्रव्यों की भिन्न २ परिवर्तनशील दशाओं, पर्यायों और परस्पर सम्पात से संसार की सृष्टि होती है।

इन सारे द्रव्यों का व्यापार एक दूसरे पर पड़ता रहता है। इनमें उत्पन्न होने नाश होने और स्थिर रहने की शक्ति है। इसी शक्ति को सत्ता भी कहा जाता है। यह सत्ता इन छः द्रव्यों में ही रहती है उनसे भिन्न कोई वस्तु नहीं। या दूसरे शब्दों में इस सत्ता का द्रव्यों से नित्य सम्बन्ध है। इससे यह स्पष्ट है कि संसार की उत्पत्ति या नाश करने वाली शक्ति छः द्रव्यों के अन्तर्गत ही विद्यमान है। संसार से पृथक् वह कोई शक्ति, सत्ता या व्यक्ति नहीं है। द्रव्यों के अन्तर्गत रहने वाली इस शक्ति को जैन धर्म ईश्वर नहीं मानता।

ईश्वर का संसार से सम्बन्ध।

अब प्रश्न यह है कि जैन सिद्धान्त के अनुसार जब ईश्वर न तो संसार का कर्ता है और न जीवों को कर्मफल भुगताने वाला नियन्ता है तो फिर उस का संसार से संबन्ध ही क्या रहा ? जब वह संसार के कामों में और उस की व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं कर सकता और नहीं किसी को हानि या लाभ ही पहुँचा सकता है तो फिर ऐसे ईश्वर को मानने से, उस की पूजा और उपासना करने से संसार को क्या लाभ। उस ईश्वर की सर्वज्ञता और अनन्त शक्तिमत्ता से संसार को क्या फायदा ? जैनी लोग जो मन्दिरों में जाकर भगवान् की प्रार्थना करते हैं धूप, दीप और चन्दन आदि से भगवान् का अर्चन करते हैं, स्थानकों और उपासरों में जाकर उस का ध्यान चिंतन और कीर्तन करते हैं, यह सब करने से फिर क्या लाभ होता है ?

इस का उत्तर जैन सिद्धान्त इस प्रकार देते हैं। प्रतिदिन के जीवन के अनुभव में हम देखते हैं कि जब हम किसी दुष्ट पुरुष को देख लेते हैं या उस का चिन्तन या ध्यान करते हैं तो हृदय में बुरे भाव उत्पन्न होने लगते हैं और दुष्ट की दुष्टता पर क्रोध आ जाता है। इसी प्रकार जब कभी किसी महात्मा या महापुरुष के हम दर्शन करते हैं या उस का चिन्तन करते हैं तो चित्त में बड़ी प्रसन्नता और शान्ति उपजती है। पवित्र विचार उत्पन्न होते हैं और संस्कार शुद्ध होते हैं। विश्व भर में बड़े २ महापुरुषों, वीरों, विद्वानों और नेताओं के बुत बनाकर यत्र तत्र चौरस्तों और बागों में रखे गए हैं और अनेक विशेष महोत्सवों पर उन बुतों के गले में या फूल मालाएं डाली जाती हैं उसका मतलब भी यही होता है कि लोग उनके महापुरुष, वीर, महात्मा या विद्वान् बनने का प्रयत्न करें।

मन्दिर में भगवान् की प्रतिमा के दर्शन करने से मूर्ति स्मारक में बैठ कर भगवान् का चिन्तन करने से आत्म करण निर्मलता की ओर बढ़ता है। आत्मा भगवान् के गुणों को अपनाने लगता है और राग द्वेषादि विकारों का त्याग करने का प्रयत्न करने लगता है। आत्मा में विवेक शक्ति का विकास होने लगता है और आत्मा अपनी अशुद्धि के मूलकारण अज्ञान और मोह से छुटकारा पाता है। आत्मा की उन्नति प्रारम्भ होती है और वह पूर्णता की ओर बढ़ने लगता है। परमात्मा में जो गुण हैं वे आत्मा में भी हैं किन्तु रागद्वेषादि के आवरण के कारण वे छिपे हुए हैं। भगवान् के पूजन या चिन्तन करने से आत्मा उस पथ की ओर बढ़ने लगता है और राग द्वेषादि का व आत्मा से दूर हट जाता है। भगवान् के निरंतर स्मरण या चिन्तन से आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को समझने लगता है। अतः आध्यात्मिक उन्नति और मानव जीवन के कल्याण के लिए भगवान् का पूजन, चिन्तन, स्मरण और कीर्तन नितान्त आवश्यक है।

बौद्ध धर्म में ईश्वर की मान्यता।

महात्मा बुद्ध ने ईश्वर के अस्तित्व और नास्तित्व में पड़ना ही ठीक नहीं समझा। ईश्वरीय ज्ञान को मानना या न मानना यह बौद्ध दृष्टिकोण से कोई आवश्यक या महत्त्वपद सिद्धान्त नहीं है। यह संसार कब प्रारम्भ हुआ इसका कब अन्त होगा यह किसी ने बनाया यह अनादि और अनन्त है, इस प्रकार के वादविवादों को बुद्ध निरर्थक और मूर्खतापूर्ण समझते थे वे तो विशेष जोर आत्म सुधार पर और संयम पालन पर देते थे। जब कभी भी उनके शिष्यों ने इस प्रकार के संसार की उत्पत्ति विषयक प्रश्न उनसे पूछे उन्होंने

उन्हें प्रोत्साहन न देकर प्रश्नों की निरर्थकता बताई । इस प्रकार के विषयों पर वितण्डावाद करने वालों का प्रकरण 'मज्झिम सुत्त' में आता है जो इस प्रकार है —

"वह मूर्ख है जो इस प्रकार के विचार करता है कि मैं भूतकाल में था या नहीं । भूतकाल में मैं क्या था और भविष्यत् काल में मैं रहूँगा या नहीं । भविष्यत् काल में मेरा क्या स्वरूप होगा और वर्तमान काल में भी अपने दिल में ऐसे विचार करता है कि मेरा वास्तव में अस्तित्व है भी या नहीं ? मैं क्या वस्तु हूँ ? यदि मैं कुछ वस्तु हूँ तो कहाँ से आगया और मृत्यु के बाद कहाँ चला जाऊँगा !"

महात्मा बुद्ध अपने उपदेशों में दूसरों की भलाई और सदाचार पर जोर देते थे । ईश्वर की सत्ता के विषय में उनके कुछ विचार तेविज्ज सुत्त में भी मिलते हैं* । इस सूत्र के प्रारम्भ में दो ब्राह्मण युवक वसिष्ठ और भारद्वाज वाद-विवाद करते हैं । उनके विवाद का विषय है कि ब्रह्म की प्राप्ति के लिये सच्चा मार्ग कौनसा है ? वे दोनों अपनी शंका के निवारणार्थ महात्मा बुद्ध की सेवा में आते हैं । उनके संशय को महात्मा बुद्ध इस प्रकार दूर करते हैं —

"हे वसिष्ठ ! इस प्रकार के ब्राह्मण जो तीनों वेदों को पढ़कर भी उन गुणों का तिरस्कार करते हैं जिनसे मनुष्य ब्राह्मण बनता है और वे ऐसा पाठ करते हैं 'हम इन्द्र को पुकारते हैं सोम को पुकारते हैं, वरुण को पुकारते हैं, ईशान को पुकारते हैं, प्रजापति को पुकारते हैं, ब्रह्म को पुकारते हैं, महिद्धि को पुकारते हैं, यम को

* धर्म ... पृ० ४५ ।

पुकारते हैं।" वसिष्ठ ! यह कभी सम्भव नहीं कि वे ब्राह्मण जो वेद पढ़े हुए हैं परन्तु उन गुणों का तिरस्कार करते हैं जिनसे मनुष्य वास्तव में ब्राह्मण बनता है और उन गुणों का धारण करते हैं जिनसे मनुष्य अब्राह्मण बनता है, यज्ञ स्तुति और प्रार्थना के कारण मृत्यु के पश्चात् जब शरीर छूट जाता है ब्रह्म को प्राप्त हो सकें।"

"अच्छा वसिष्ठ ! क्या यह सम्भव है कि वे ब्राह्मण जो वेद पढ़े होने पर भी अपने हृदय में क्रोध और द्वेष धारण किए हैं, जो पापी और असंयमी हैं मरने के पीछे शरीर छोड़ने पर उस ब्रह्म को प्राप्त कर सकें जो क्रोध, द्वेष और पाप रहित है और संयम स्वरूप है।"

इस प्रकार महात्मा बुद्ध ईश्वर के अस्तित्व और नास्तित्व के वाद विवाद में न पड़ कर क्रोध और द्वेष के त्याग पर और संयम के पालन पर अधिक जोर देते हैं। वेदों की उपेक्षा और ब्राह्मणों की निन्दा उन्होंने इस कारण की कि तत्कालीन ब्राह्मण वेदों की आड़ लेकर क्रोध, द्वेष, असंयम और हिंसा में प्रवृत्त होगए थे और ब्राह्मणत्व के वास्तविक स्वरूप को भूल चुके थे।

वैदिक धर्म के समान ईश्वर के अस्तित्व का प्रचार न करके महात्मा बुद्ध ने आत्मसंयम, आत्म सुधार, मानव जाति तथा प्राणिमात्र के प्रति सुहृद्भाव, शुभकर्मों का आचरण और मानसिक पवित्रता के प्रचार पर जोर दिया। अब नीचे पाठकों के ज्ञानार्थ बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्तों या मन्तव्यों पर संक्षेप से प्रकाश डाला जायगा।

बौद्ध धर्म मे निर्वाण।

निर्वाण शब्द का अर्थ वेदान्तियों का ब्रह्मानन्द नहीं है।

बौद्ध धर्म में इसका अर्थ—वासना और अज्ञानादि विषयों की ज्वाला को बुझा देने का नाम ही निर्वाण है। व्यावहारिक सत्य का अनुभव होने के पश्चात् पारमार्थिक सत्य की खोज की जाती है और इसी सत्य का अधिगत करना ही 'निर्वाण' प्राप्त करना है।

सर्व प्रपञ्चानामुपशम ।

अर्थात्—सब प्रपञ्चों का नाश करना ही निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण के मुख्य दो भेद हैं —(१) उपाधिशेष और (२ अनुपाधिशेष। निर्वाण की प्राप्ति तृष्णा के उच्छेद से होती है। सांख्यशास्त्र का 'वासना राहित्य' और बौद्धों का तृष्णा उच्छेद ये मिलते जुलते ही हैं। चार आर्यसत्य माने गए हैं जिनके अनुभव से ही तृष्णा का नाश होता है। ये चार आर्य सत्य दुःख, समुदय निरोध और प्रतिपत्ति हैं। परिदृश्यमान जगत् में सब दुःख ही दुःख है। जीवन में दुःख के सिवाय और कुछ दिखाई नहीं देता। इस दुःख का उदय जीव की वासना से होता है। इसका निरोध हो सकता है और इसकी प्रतिपत्ति 'अष्टाङ्गिक मार्ग' और प्रज्ञा शीलादि से होती है। वे अष्टाङ्गिक मार्ग ये हैं —(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् संकल्प (३) सम्यक् वाक् (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि। इसी प्रकार नीचे दस भाव इस मार्ग के बाधक हैं —(१) सत्काय दृष्टि, (२) विचिकित्सा, (३) शीलव्रत परामर्श (४) काम, (५) प्रतिघ, (६) रूपराग, (७) अरूपराग (८) मान (९) औद्धत्य और (१०) अविद्या। ऐसे ही दस ही निषेधात्मक शिक्षाएं हैं —(१) प्राणातिपात, (२) अदत्तादान, (३) अब्रह्मचर्य (४ मृषावाद, (५) पैशुन्य (६) औद्धत्य, (७) वृथा प्रलाप, (८) लोभ, (९) द्वेष और (१०) विचिकित्सा। बौद्ध धर्म—

मय्य ? रची जाती निरात्मक खात २ यही धारें हैं। य व्यावहारिक हैं और मनुष्य का अज्ञानता व अन्धकार में प्रवाहमान लाता है। यही सत्कर्म का नाम मिलि थी जिस पर महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म को स्थापित किया था।

बौद्ध परम्परा में क्षणिकवाद।

महात्मा बुद्ध ने 'अनत्तवाद' अर्थात्—आत्मवाद की निन्दा की है। सांसारिक सब पदार्थों को क्षणिक माना है। हर एक वस्तु को क्षण क्षण में नाश होता रहता है। उदाहरणार्थ छापेखाने से निकला हुई पुस्तक भी या अनुमान से सवासौ वर्षों के पश्चात् जार्ण होजाती है और तब हाथ से छूते ही उसके पत्र भुरने लगते हैं। क्या य० जार्ण करने वाली शक्ति एक ही दिन में पैदा होजाती है? नहीं, उस पुस्तक में क्षण क्षण में नाशरूप परिवर्तन होता रहता है और अन्त में उस पुस्तक के परमाणु अपनी जननी वसुन्धरा में ही जा मिलते हैं। इस तरह से बौद्ध धर्म को मान्यता के अनुसार संसार के सब सत् पदार्थ क्षणिकवाद में रंग जाते हैं। यहां तक कि आत्मा का भी नाश माना है। अब झट यह प्रश्न उठ जाता है कि अगर आत्मा का भी नाश होजाता है तो मृत्यु के बाद 'निर्वाण' या मुक्ति फिर किस तत्त्व की होती है? ईश्वर को तो वैसे ही बौद्ध धर्म में महत्त्व नहीं दिया गया और आत्मा को नाशवान् मान लिया फिर ऐसा कौनसा तत्त्व अवशिष्ट रहा जिसकी मुक्ति होने की सम्भावना की जासकती है? इसका उत्तर यही है कि बौद्ध धर्म में जिस तत्त्व को आत्मा के नाम से कहा है वह वस्तु है जो सस्कार और कर्मों के कारण एक दूसरे में मिलता फर देता है और जो 'निर्वाण' की प्राप्ति होने ही नष्ट होजाता है। इस आत्मा को नष्ट होने वाला मानना उस वस्तु में है जो हर एक चराचर

और में व्याप्त है, जो 'वाचिचित्त' है, जो अपनी सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त होकर संस्कारों और कर्मों से होने वाले फलों का त्याग कर निर्वाण पद को प्राप्त करता है। यह नश्वर शरीर कर्मानुसार स्थूल और सूक्ष्म होता है और क्षण-क्षण में परिवर्तन होता रहता है।

नित्य सत्य।

महात्मा बुद्ध ने कहा था कि—'इमानि सच्चानि बहूनि नानानि' अर्थात्—इस संसार में नाना प्रकार के बहुत सत्य नहीं हैं। नित्य सत्य संसार में बहुत थोड़े से ही हैं। इन नित्य-सत्यों के अनुसार चलकर ही मनुष्य अपने मार्ग को साफ करता है। अज्ञानान्धकार का नाश करने वाली ज्योति उन्हीं से मिल सकती है और जीवन का वास्तविक लक्ष्य या ध्येय फलीभूत हो सकता है। दर्शनों को प्रमाण मानने वाले भी अपने २ दर्शनों के मोह रूप चक्कर में फँसे रहते हैं। तर्क भी अप्रतिष्ठ है अतः दर्शन हानिकारक है।

लिखा है, यह बात बाहर से तो ठीक भी मालूम होती है किन्तु दर्शन के अभाव में आन्तरिक ज्ञान प्राप्त करने का और कोई साधन भी तो दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार के सिद्धान्तों और प्रश्नों का चक्रव्यूह महात्मा बुद्ध के शिष्यों में भेद डालने का कारण बना। उनके शिष्य बाद में दो वर्गों में बँट गए। सर्वप्रथम बौद्धधर्म के दो सम्प्रदाय हुए जो हीनयान और महायान के नाम से प्रसिद्ध हैं। हीनयान में भी 'वैभाषिक' और सौत्रान्तिक नाम के दो भेद हुए। वैसे ही महायान में योगाचार और माध्यमिक नाम के दो पन्थ हुए।

धर्म निकाय।

—— इसका, जो ६ अंगों प्रयोग पौद्गलिकों में नहीं किया किन्तु —

स्थान पर या उस का पर्याय 'धर्म निकाय' शब्द मिलता है जिसे बुद्ध का शरीर भी कहते हैं। समता का बोध भी इसी से होता है। बौद्ध-धर्म ग्रंथों में धर्म निकाय या बुद्ध का स्वरूप इसी प्रकार वर्णन किया है। बुद्धकाय की यह प्रकृति है कि वह दृश्यमान जगत् व नानात्व में स्वयमेव अस्तित्वरूप धारण करता है, वह किसी विशेष अस्तित्व के बाहर स्थित नहीं रह सकता, बल्कि वह उस में निवास करके उसे जीवन प्रदान करता है। जब हम दृश्यमान संसार के पदार्थों की विभिन्नताओं को सूक्ष्म दृष्टि से देखते हैं तो हमें सर्वत्र धर्मकाय के सिवाय और कुछ भी दिखाई नहीं देता और इस तरह से हमें वस्तुओं की समता स्पष्ट दिखाई देने लगती है।

दृश्य जगत् की यथार्थता और नानात्व को मानने के साथ २ बौद्धधर्म की यह मान्यता है कि जितने भी पदार्थ हमें दिखाई देते हैं वे सब एक अन्तिम कारण से उत्पन्न होते हैं जो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वप्रिय है। यह जगत् उस कारण आत्मा अथवा जीवन का व्यक्त स्वरूप है। भेद के सद्भाव में भी सांसारिक सभी पदार्थ परमतत्त्व के स्वभाव से युक्त होते हैं। अतएव ईश्वर जो इस जगत् में नहीं है वह असत् है और जगत् जो ईश्वर में नहीं है वह मिथ्या है। संसार के सब पदार्थ एक ही तत्त्व में लीन हो जाते हैं और एक ही तत्त्व अनेक पदार्थों के रूप में कम करता है। अतएव अनेक एक में है और एक अनेक में है। संसार और परमात्मा के विषय में बौद्धों का यही सिद्धान्त है। जिस प्रकार समुद्र की अनेक तरंगें और लहरें लहराती और उन्मथित होती हुई केवल एक जल के ही नित्य स्वरूप की ही विभिन्न गतियां हैं इसी प्रकार संसार की सब क्रियायें भी भिन्न २ रूप से भासने पर भी एक ही तत्त्व की प्रतिबिम्बमात्र हैं। इस से विज्ञ पाठक

भली प्रकार समझ गए होंगे कि जैसे अद्वैतवाद में अनादिनित्य ब्रह्म रूप तत्व की सत्ता मानी है और संसार के सब आत्मा उसी एक तत्व के प्रकाश हैं और उस से अभिन्न हैं ठीक उसी प्रकार बौद्धधर्म के उपर्युक्त सिद्धान्त में भी नानात्व का सद्भाव एक ही तत्व से माना है जो नानात्व से भिन्न नहीं है।

एकाग्र ध्यान की प्रधानता।

बौद्धधर्म की एक और विशेषता ध्यान देने योग्य है। इस में किसी वस्तु को जानने के लिये उस के लिये तर्क दर्शन या वादविवाद को महत्व नहीं दिया जाता किन्तु अपने एकाग्र ध्यान से उसे समझने पर जोर दिया जाता है। किसी अनुभव में न आई हुई वस्तु पर उस के अस्तित्व या अस्तित्वहीनता पर तर्क करना या उस विवाद का विषय बनाना या किसी तत्व पर केवल श्रद्धा के भाव रखना सर्वथा मूर्खता मानी है। यदि ईश्वर है तो उस के लिये प्रश्नोत्तर करना व्यर्थ है किन्तु मनुष्य को चाहिये कि वह स्वयं अपने अनुभव से जो ध्यान द्वारा आता है उसे समझे। यदि आत्मा ही परमात्मा है तो इस भावना को ध्यान से कार्यरूप में परिणत करना चाहिये केवल 'अमुक वस्तु ऐसे है' ऐसी श्रद्धा या विश्वास करने से कोई लाभ नहीं। बौद्धदर्शनों में अधिकतर जोर ध्यान पर ही दिया है। बौद्धधर्म की मान्यता है कि धर्म का अर्थ अनुभव करना है, प्रदर्शन करना नहीं। इस लिये धार्मिक पुरुषों को तत्व की जिज्ञासा करनी चाहिये, छाया की नहीं। प्रकाश की गवेषणा करनी चाहिये, प्रतिबिम्ब की नहीं। अतः वास्तविक तत्व की खोज और ज्ञान के लिये ध्यान को ही प्रधानता देनी चाहिये विवाद और तर्क को नहीं।

इस प्रकार अन्त में केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि बौद्धधर्म में केवल एक ही महान् तत्व माना है और संसारस्थ सब प्राणी उस के क्षणिक स्वरूप हैं। जब वे सब उस तत्व के अनुकूल चलते हैं तो सब नित्य हैं और जब अहंकार और अज्ञान के द्वारा उस से विपरीत चलते हैं तो नाश को प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों भारतीय महान् धर्मों के ईश्वर विषयक संक्षिप्त निरूपण से पाठकों को भली प्रकार पता चल गया होगा कि तीनों धर्मों में ईश्वर का क्या स्थान है और तीनों किस २ रूप में उस की सत्ता को स्वीकार करते हैं।



श्रमण-संस्कृति का स्वरूप

श्रमण संस्कृति भारत की अतिप्राचीन संस्कृति है। जैन और बौद्ध ये दोनों श्रमण संस्कृति की ही भिन्न २ धाराएँ हैं। श्रमण शब्द का प्रयोग जैन और बौद्ध दोनों के साधुओं के लिये किया जाता है। यहां श्रमण-संस्कृति से जैन संस्कृति समझना चाहिये। वर्तमान समय में तीर्थंकर धर्म के अनुयायियों के लिये जो जैन शब्द का प्रयोग प्रचलित है यह विक्रम संवत् १००० के लगभग ही प्रयोग में आने लगा। उसके पूर्व इस धर्म को श्रमण धर्म या निर्ग्रन्थ प्रवचन के नाम से पुकारा जाता था। आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्वामी से लेकर जो परम्परागत प्रवचन चला आता है उसको मानने वाले को श्रमण-धर्मावलम्बी कहते हैं। तीर्थंकर का ही दूसरा नाम जिन है जिनके अनुयायी वर्तमान समय में जैन कहलाते हैं।

संस्कृति की परिभाषा।

सम् उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से भूषण अर्थ में सुट् का आगम करके 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से संस्कृति शब्द बन जाता है। इस प्रकार संस्कृति शब्द का अर्थ होता है भूषणभूत सम्यक् कृति। चराचर सारे विश्व में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जिसको सम्यक् और असम्यक् कर्म का विवेक होता है और यही विवेक पशु समाज की अपेक्षा मानव को उत्कृष्ट और उत्तम बनाता है। इसके अतिरिक्त संस्कृति का पूर्ण अर्थ समझने के लिये संस्कार शब्द का भाव

भी परमावश्यक है। संस्कार का अर्थ है किसी वस्तु को शुद्ध करना या उसके आन्तरिक प्रकाश को प्रकट करना। निस्सन्देह संस्कारों की उत्पत्ति और सम्बन्ध बाह्य जगत् से भी बहुत है किन्तु वास्तव में संस्कारों का उद्देश्य मानसिक और आध्यात्मिक होता है। जब हम किसी मनुष्य को कहते हैं कि वह सुसंस्कृत है तो हमारा अभिप्राय उसकी बाह्य बातों से नहीं होता किन्तु हम देखते हैं कि उसका मन और आत्मा कितने ऊपर उठे हुए हैं या विकसित हो चुके हैं। यही कारण है कि सुसंस्कृत मनुष्य मन और आत्मा के उत्थान के कारण सदा सत्कर्मों की ओर ही प्रवृत्त होता है। इस प्रकार संस्कृति मानव का आन्तरिक गुण है और इसके विकास से ही मानव जाति के सारे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और आध्यात्मिक व्यवहार सुचारु रूप से चल सकते हैं। संस्कृति ही मानव को मानवता की ओर ले जाती है।

संस्कृति और सभ्यता।

बहुत से सज्जन इन दोनों शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते हैं किन्तु वास्तव में दोनों में महान् भेद है। संस्कृति मानव की आन्तरिक वस्तु है और सभ्यता बाहर की। संस्कृति मानव को आध्यात्मिकवाद की ओर ले जाती है और सभ्यता प्रकृतिवाद की ओर। अतएव यह आवश्यक नहीं कि जो लोग सभ्य हों वे सुसंस्कृत भी अवश्य होंगे। श्रद्धेय श्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजकाचार्य ने इसका बड़ा सुन्दर विवेचन किया है* —

"जब हम यह कहते हैं कि जर्मन जाति सभ्य है, तो इसका

* देखो कल्याण का हिन्दू संस्कृति अंक पृ० २३४।

अर्थ यह है कि यह जाति अपने दैनिक जीवन में सुधरे हुए साधनों का व्यवहार करती है। अर्थात् शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसके पास आधुनिक वैज्ञानिक साधन हैं और वह सदा इस बात के लिये प्रयत्नशील रहती है कि शरीर को अधिक से अधिक सुख और मजा मिले। अमरीकन लोग बड़े सभ्य हैं, क्योंकि वे बिजली से खाना बनाते हैं और ट्रैक्टरों द्वारा खेती करते हैं। उनके यहां इक्के तांगे जैसी कोई सवारी नहीं, और उनकी आबादी के प्रत्येक चौथे व्यक्ति के पास अपनी मोटरकार है। जो जातियां आज वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग करती हुई अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठाती चली जाती हैं, वे जातियां सभ्य कहलाती हैं अंगरेजी भाषा में सभ्यता के लिये 'Civilization' शब्द का व्यवहार किया जाता है। इन जातियों की जीवन आवश्यकताएं उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं और बढ़ती रहेंगी क्योंकि इन का मुंह सभ्यता की ओर है। ये प्राकृतिक पदार्थों तथा भोगों के अन्दर ही सुख शान्ति की तलाश करती हैं, जिन का कहीं अन्त ही नहीं है।

इन जातियों के पास संस्कृति अर्थात् 'Culture' या 'तमद्दुन' भी है किन्तु वह सभ्यता के पीछे २ उस की चेरी बन कर चलता है। वे सुन्दर चित्र बनाएंगे, कलाकारों को उत्साहित करेंगे, कवियों को पुरस्कार देंगे और उत्कृष्ट कलायुक्त भवन बनाकर उस में निवास करेंगे, अपनी बोल चाल में होटलों तथा दुकानों में उन की भाषा मिष्ट और शिष्ट होगी। लेकिन उन सब का मुख्य लक्ष्य होगा सभ्यता के खुदा 'धन' को प्रसन्न करना, और दूसरों की जेबों में से पैसा निकालना। दूसरे शब्दों में वह सुसंस्कृत अवश्य हैं किन्तु अपनी सभ्यता को आगे बढ़ाने के लिये प्राकृतिक सुखों का मजा लूटने के लिये उन का सारा [illegible] है। [illegible] की वृत्ति बहिर्मुखी होने के कारण वे सभी

जातियों को अपनी उस लपेट में ले लेता है और कच्चे मानवों के रूप में पृथ्वी का भार डालता है। पक्का मार्ग बनने के लिये सब प्रकार के दाँव-पेच, छल प्रपंच काम में लाता है। यहाँ तक कि युद्ध के रौरव नरक से भी नहीं डरते।

अब आइये संस्कृति की ओर, जिस पर मानव की मानवता पूर्णरूप से निर्भर है। संस्कृति है आत्मा की वस्तु, आत्मिक उत्थान का चिन्ह, आत्मिक उत्थान की सीढ़ी और आत्मदर्शन का मार्ग। सभ्यता है अपरा विद्या और संस्कृति है परा विद्या। यदि हमें इन दो शब्दों का लक्षण अंग्रेजी भाषा में ठीक करना पड़े तो हम उसे इस प्रकार करेंगे—

(Civilization is an expression of flesh, while culture is the manifestation of soul

अर्थात् – सभ्यता शरीर के मनोविकारों की द्योतक है, जब कि संस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका है। सभ्यता का उत्थान मानव को प्रकृतिवाद की ओर ले जाता है, जब कि संस्कृति मानव को अन्तर्मुखी करके उस के सात्विक गुणों को प्रकट करती है।’

श्रमण संस्कृति की विशेषताएं।

श्रमण संस्कृति प्राणीमात्र के प्रति समता रखने का उपदेश देती है। विश्व के सब जीवों के प्रति दया रखना और उनका कल्याण चाहना श्रमण संस्कृति का प्रधान उद्देश्य है। इसकी दया की सीमा केवल जंगम संसार के प्राणियों के लिये ही सीमित नहीं अपितु स्थावर संसार के जीवों के लिये भी प्रसारित है। अपने सुख दुःख के समान ही

संसार के सब जीवों के सुख दुःख को समझना चाहिये, यह सन्देश श्रमण संस्कृति ने संसार को दिया है। श्रमण संस्कृति का सारा क्रियाकाण्ड समता के उपदेश से अलङ्कृत है। जैन धर्म के बाह्य, आभ्यन्तर, स्थूल और सूक्ष्म जितने भी आचार विचार हैं सब समता के आदर्श की ओर ही इंगित करते हैं।

कर्म विपाक।

श्रमण संस्कृति के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक आत्मा चाहे वह स्थावर संसार में वनस्पति की देह में हो, चाहे कीट, पतंग या पशु पक्षी के शरीर में हो और चाहे मानव की देह में हो तात्विक दृष्टि से समान है। छोटा या बड़ा आकार शरीर का हो सकता है आत्मा का नहीं। आत्मा सब प्राणियों में समान है। जीवों में जो शारीरिक और मानसिक विषमता दृष्टिगोचर होती है वह कर्ममूलक है। जैसा-जैसा जीव उत्तम या अधम कर्म बांधता रहता है वैसा-वैसा ही उसको फल भोगना पड़ता है। कर्म के अनुसार ही जीव भिन्न-भिन्न अच्छी या बुरी योनियों में जन्म लेता रहता है। कर्म के अनुसार ही उसे सुख या दुःख मिलते हैं। जीव जैसा २ कर्म करता है वैसा ही उसका संस्कार बनता है और उस संस्कार के अनुसार ही उसका अन्तःकरण की वृत्ति बनती है। उस वृत्ति के अनुसार ही जीव की भिन्न २ विषयों में प्रवृत्ति होती है। अतएव यदि कर्म उत्कृष्ट हो तो आध्यात्मिक पथ की ओर बढ़ने लगता है और यदि कर्म निकृष्ट हो तो जीव पतन की ओर बढ़ता है। क्षुद्र से क्षुद्र योनि में पड़ा हुआ जीव भी उत्तमकर्मों के परिणाम स्वरूप मानव योनि में जन्म ले सकता है और मानव योनि में पड़ा हुआ जीव निकृष्ट कर्मों के प्रभाव से

क्षुद्रतम योनि में जन्म लेता है। इस प्रकार ऊँच नीच योनि, सुख दुःख और जन्म, मरण आदि सबका आधार कर्म ही है। वैदिक तथा अन्य बहुत से धर्मों में कर्मों का नियन्त्रण ईश्वरीय सत्ता के अधीन माना है किन्तु श्रमण संस्कृति उससे सहमत नहीं। जैन दर्शन के अनुसार जीव को कर्मों का फल भुगताने के लिये किसी ईश्वर जैसी सत्ता की आवश्यकता नहीं समझी गई। अनादि और अनन्त संसार में जीव और अजीव नाम के दो प्रधान पदार्थ हैं। जीव चेतन है और अजीव जड़। जीव सिद्ध और संसारी दो प्रकार का है। सिद्धावस्था जीव का शुद्ध स्वरूप है। संसारी जीव कर्म बन्धन से बंधा हुआ है। दृश्यमान पदार्थ पुद्गल द्रव्य के भिन्न २ रूप हैं। जब आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर पुद्गल द्रव्यों की ओर प्रवृत्ति करता है और उन पर अज्ञानवश आसक्त होजाता है तो आत्मा में राग भाव उत्पन्न होता है और उस राग से ही द्वेष की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार राग से ही द्वेष रूप विकारी भावों से आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों का संयोग सम्बन्ध होजाता है और राग द्वेष रूप चिकनाहट के कारण कर्मरज आकर जीव के साथ चिपट जाती है। राग द्वेष के अभाव में कर्मबन्ध नहीं हो सकता। जिस प्रकार मद्यपान से नशा स्वयं आजाता है। इसी प्रकार कर्मों का भी जीव के साथ ऐसा बंध होता है कि कर्मों में अनुरूप फल प्रदान की शक्ति उत्पन्न होती है। जब २ जिस २ कर्म का उदय होता है तब-तब वह अपने स्वभावानुसार ही फल प्रदान कर देता है।

भौतिकवाद और आत्म तत्त्व।

आगमों के सिद्धान्त अनादिकाल से मानव को आध्या

त्मिक उन्नति की ओर प्रेरित करते आए हैं। प्रकृतिवाद या भौतिकवाद की सदा ही श्रमण धर्म के महर्षियों ने उपेक्षा की है। भौतिकवाद को ही सर्वेसर्वा मानने वाला आज का मानव भले ही उन महर्षियों को उपेक्षा की दृष्टि से देखे, या उनकी बुद्धि को प्रकृतिवाद के क्षेत्र में अविकसित समझे किन्तु तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर उनकी ही दृष्टि विशाल बनती है। यह ठीक है कि मानव जाति ने बहुत हद तक प्रकृति पर प्रशंसनीय विजय प्राप्त करली है। मानव वायुयानों पर आकाश में उड़ने लग गया है और महीनों की यात्रा घंटों में ही सुलभ होगई है। रेडियो यन्त्र के आविष्कार से वह घर बैठे ही सारे संसार के समाचार सुन सकता है। पनडुब्बियों में बैठ कर वह समुद्र के तल पर जा सकता है और युद्ध-पोतों को तोड़ देता है। हवाई जहाजों द्वारा एटम बम्ब बरसा कर वह कुछ क्षणों में प्रलय मचा सकता है किन्तु इन सब और अन्य अनेक प्रकार के भौतिक आविष्कारों से वह वास्तव में ऊँचा नहीं उठ पाया है। भौतिकवाद की इस उन्नति की ओर बढ़ने के परिणामस्वरूप ही विश्व को गत दो महायुद्धों की भीषणता का सामना करना पड़ा। और अब तीसरे महायुद्ध के बादल फिर मँडराते नज़र आरहे हैं। विश्व के किसी कोने में भी शान्ति नहीं है। सर्वत्र अशान्ति, भय, कलह और अत्याचार बढ़ रहे हैं। यह सब होते हुए भी भौतिकवाद का दास आज का मानव बड़ी शान से यह कहता है कि आज का युग विज्ञान का युग है, विकास का युग है और प्रगति का युग है। आज के युग में जो देश अधिक से अधिक संख्या में घातक शस्त्र अस्त्र तैयार कर सके और शक्ति के बल से निर्बल देश को हड़प कर सके उसको बहुत उन्नत और सभ्य देश समझा जाता है। यह बात कहां सत्य है यह पाठक स्वयं विचार सकते हैं। अस्तु श्रमण संस्कृति

क महर्षियों का इस प्रकार के भौतिक विकास निरर्थक प्रतीत हुए। यह बात असत्य है कि उनकी बुद्धि आधुनिक आविष्कारों तक पहुंच नहीं सकती थी। वास्तव में वे भौतिकवाद के दुष्परिणामों से भली भांति परिचित थे इस कारण वे उनकी ओर ध्यान ही नहीं देते थे। इसी मत की पुष्टि भारतीय तथा अन्य संस्कृतियों के मर्मज्ञ श्री अरविन्द जी ने इस प्रकार की है* —

'आध्यात्मिकता ही भारतीय मन की मुख्य कुञ्जी है, अनन्त को भावना उसकी सहजात भावना है। भारत ने आदिकाल में ही यह देख लिया और अपने तर्क बुद्धि के युग में तथा अपने बढ़ते हुए अज्ञान के युग में भी उसने यह दृष्टि कभी नहीं खोई कि जीवन को केवल उसकी बाह्य परिस्थिति के प्रकाश में ही ठीक-ठीक नहीं देखा जा सकता और न वह केवल उन्हीं की शक्ति से पूरी तरह बिताया जा सकता है। वह प्राकृतिक नियमों तथा शक्तियों की महत्ता के प्रति जागरूक था, उसे भौतिक विज्ञानों के महत्त्व का सूक्ष्म बोध था, वह साधारण जीवन की कलाओं का संघटित करना जानता था। परन्तु उसने यह देखा कि भौतिकता को अपनी पूरी सार्थकता तब तक नहीं प्राप्त होती, जब तक वह अतिभौतिक से ठीक सम्बन्ध नहीं स्थापित कर लेती, उसने देखा कि संसार की जटिलता की व्याख्या मनुष्य की वर्तमान परिभाषाओं से नहीं की जा सकती और न मनुष्य की स्थूल दृष्टि से समझी जा सकती है, और यह कि विश्व के मूल में कुछ अन्य शक्तियाँ भी हैं तथा स्वयं मनुष्य के भीतर भी कुछ अन्य शक्तियां हैं जिन्हें वह साधारणतया नहीं जानता।'

इस प्रकार सामर्थ्य के सद्भाव में भी प्राचीन आचार्य भौतिक

* देखो कल्याण का हि० सं० अ० पृ० २०७।

तत्वों की उपेक्षा करके आध्यात्मिक तत्वों की ओर दृष्टन करा हा मानव जाति को प्रेरणा करते थ। आत्मा की उन्नति का अन्तिम लक्ष्य मात्र था। संसार में चित् और अचित् या दूसरे शब्दों में चेतन और जड़ दो तत्व हैं। दोनों का उचित विचार ही विवेक है। चेतन का स्वभाव है कि वह जड़ पदार्थों का ज्ञाता ज्ञाता होता है। जीवों की दो कोटियां हैं—मुक्त और संसारी। संसारी जीवों में भी कुछ मन वाले, और कुछ मन रहित त्रस और स्थावर) हैं। मुक्ति का साधन धर्म तत्व है और मुक्ति में प्रतिबन्ध डालने वाला तत्व अधर्म है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व हैं। पुण्य और पाप को मिला कर नौ भी माने जाते हैं। जो बन्ध का हेतु है वह आस्रव है। काया, वाणी और मन में आस्रव स्फुरित होता है। मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद और कषाय के कारण जीव में आस्रव के द्वारा उस का पुद्गल से योग होता है, यह सम्बन्ध ही बन्ध है। आस्रवरूप संसार प्रवाह को रुकने वाला संवर है। यही संवर मोक्ष का कारण है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन मोक्ष के मार्ग हैं। ज्ञान और दर्शन तो आत्मा के अनादि अनन्त निज गुण हैं। मोक्ष प्राप्ति के बाद भी ये आत्मा के साथ ही रहते हैं। दर्शन और ज्ञान दोनों का नित्य सम्बन्ध है। चरित्र दोनों की पूर्णता की ओर प्रवृत्ति कराता है। इन तीनों के प्रभाव से जब सब कर्मों का क्षय हो जाता है तो आत्मा मुक्त हो जाता है। तब आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप बन जाता है। श्रमण संस्कृति सदा से मानव को इस सच्चिदानन्द स्वरूप मोक्ष की ओर चलने की ही प्रेरणा करती आई है।

पञ्च महाव्रत।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह. ये

संस्कृति के पाच प्रधान महाव्रत हैं। इन का विधान तो येन केन रूपेण भारत के प्राय सभी धर्माचार्यों ने किया है परन्तु श्रमण धर्म इन के पालन पर विशेष ही ज़ोर देता है। इन पांचों के पालन करने से ही मानव मानवता की ओर कदम बढ़ा सकता है। किसी भी जीव को मन, वचन और काया से हिंसा न करने का नाम ही अहिंसा है। अहिंसा श्रमण संस्कृति के प्राण हैं। इस का विस्तृत विवेचन 'अहिंसा परमो धर्म' के प्रकरण में कर दिया है।

सत्य।

सत्य नामक दूसरे महाव्रत का अहिंसा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। सत्य पर चलता हुआ मानव ही पूर्णरूप से अहिंसा महाव्रत का पालन कर सकता है। सत्य बोलने और सत्याचरण करने आदि से आत्मा का उत्थान होता है। सत्य से आत्मा को बल मिलता है और और असत्य से आत्मा पतन की ओर जाता है। सत्य बोलने वाला व्यक्ति सदा निश्शंक और निर्भय रहता है और इस के विपरीत असत्यभाषी सदा पोल खुलने के डर से शंकित और सभय रहता है। असत्य की सदा अन्त में हार होती है और सत्य की जीत होती है। 'सत्यमेव जयते ना नृतम्' इस महावाक्य को कभी नहीं भूलना चाहिये। जिस समाज, धर्म या जाति के लोग सत्य की उपेक्षा करते हैं वह समाज, धर्म या जाति कभी भी विवेक और नैतिकता के ऊँचे स्तर तक नहीं पहुंच सकती। अतएव सामाजिक जीवन को ऊँचा बनाने के लिये सत्यवादिता परमावश्यक है।

अस्तेय।

अस्तेय अर्थात् चोरी न करना। जो वस्तु अपनी नहीं उस पर

अधिकार नहीं करना चाहिये। सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये इस तीसरे महाव्रत का पालन भी सुसंस्कृत संसार के लिये परमावश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह दूसरे के अधिकारों का आदर करे और उनको अपने अधिकारों के समान समझे। बलपूर्वक डाका डालकर या छुप कर चोरी करके यदि कोई व्यक्ति दूसरे के माल को छीने तो इससे सामाजिक व्यवस्था भंग होती है और आत्मा का पतन होता है। आजकल भी जो सबल राष्ट्र निर्बलों पर आक्रमण करके उनको उनकी जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता से वञ्चित करते हैं वे भी डाकुओं की ही कोटि में आते हैं। सबल निर्बल के अधिकारों को छीने यह अनधिकार चेष्टा है। अतः जीवन के आदर्श मार्ग की ओर बढ़ने के लिये इसका त्याग ही कल्याणकारी है। अस्तेय सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था के लिये मूल शिक्षा है।

ब्रह्मचर्य।

मनुष्य में अनेक प्रकार की वासनाओं और लालसाओं का होना स्वाभाविक है। विवेक द्वारा उन वासनाओं और लालसाओं पर नियन्त्रण रखना ही ब्रह्मचर्य है। जो व्यक्ति ऐसा नियन्त्रण नहीं रखता है वह विषयों के गड्ढे में ऐसा गिरता है कि फिर उसका उत्थान होना बड़ा कठिन होता है। विषयों का रसास्वादन बाहर से मधुर है किन्तु परिणाम में दुःखप्रद है। इनका अधिक से अधिक उपभोग करने पर भी क्षुधा शान्त नहीं होती किन्तु उत्तरोत्तर बढ़ती है। आग में जिस प्रकार घृत डालने से वह अधिकाधिक प्रचण्ड ही होती है ठीक इसी प्रकार विषयों के उपभोग से उत्तरोत्तर तृष्णा बढ़ती जाती है घटती नहीं। अतएव विवेकी मनुष्य विषयों के दुःखावह परिणाम को

सदा ध्यान में रखते हुए उनमें फँसने नहीं और उनका त्याग करना ही श्रेय समझते हैं। कुत्ते को जब सूखी हड्डी का टुकड़ा मिल जाता है वह उसको बड़े चाव से खूब चबाता है और उस हड्डी के तीक्ष्ण भाग के चुभने से उसके अपने मुँह से ही खून निकलने लगता है। वह कुत्ता यह समझकर कि रक्त हड्डी से निकल रहा है उस ओर अधिक चबाता ही जाता है। ठीक यही दशा शास्त्रकारों ने विषय लम्पट पुरुषों की भी बताई है। विषयों के भोग से नाश तो उनका अपना ही होता है किन्तु वे समझते हैं कि रस विषयों से मिल रहा है। विषयों का ध्यान करने में किस प्रकार मनुष्य उत्तरोत्तर पतन की ओर बढ़ता है इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण गीता में खींचा है —

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(गीता २। ६२ ६३)

अर्थात्—विषयों का निरंतर ध्यान करने से मनुष्य का उनमें लगाव हो जाता है। लगाव अर्थात् संग से काम की उत्पत्ति होती है। काम से क्रोध पैदा होता है, क्रोध से भूल होती है, भूल से स्मृति बिगड़ती है, स्मृति के बिगड़ने से बुद्धि का नाश और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

गीता के इन दो श्लोक रत्नों में मनोविज्ञान का कितना सुन्दर और सारपूर्ण चित्र खींचा है इसकी प्रशंसा किए बनती है।

अपरिग्रह ।

संसार के सुखों को अपनी इच्छा से त्याग कर देना, तृष्णा से विरक्ति, और अनेक वस्तुओं के संग्रह का मोह त्याग ही अपरिग्रह कहलाता है। मनुष्य जितना ही अधिक वस्तुओं का परिग्रह करता जाता है, उतना ही उसका उनके प्रति मोह बढ़ता जाता है और उस मोह का परिणाम मन में अशान्ति और दुख होता है। अतएव जितना ही कम परिग्रह हो उतना ही मनुष्य निश्चिन्त, सुखी और प्रसन्न रहता है। सात्विक और सादा जीवन ही सुखकारी होता है। यदि संसार ने अपरिग्रह के महत्व को समझा होता तो आज जो पूंजीपतियों और साम्यवादियों में संघर्ष चल रहा है और भयानक रक्तपात हो रहा है यह कभी न होता। श्रमण संस्कृति के अपरिग्रह आदर्श के अनुसार यदि संसार के लोग सादा जीवन व्यतीत करते और अपने भाइयों के शोषण से पूंजी इकट्ठी न करते तो यह स्वाभाविक था कि वह पूंजी केवल अल्प संख्यक मनुष्यों के पास न रहकर जन साधारण तक फैली होती। ऐसी स्थिति में साम्यवादी जैसे सिद्धान्त का जन्म ही न हो पाता। अपरिग्रह के महत्व को न समझने के कारण ही आज मानव दानव बन रहा है। चोर बाजारी का बाजार गर्म है। परिग्रह के उपासक लोभी और लालची लोगों के कारण आज विश्व में असंख्य परिवार अनेक भयानक कष्टों के भार से पिस रहे हैं। आवश्यक जीवन के साधन भी दिन प्रतिदिन दुर्लभ हो रहे हैं और जीवन भार रूप बनता जा रहा है। किसी के पास इतना है कि वह धन को में लगाता है और अधिक लोगों के पास इतना भी नहीं है कि वे सादा पहन से जीवन निर्वाह भी कर सकें। मनन कीजिए, मानव में इस प्रकार का महान् विषमता ही कलह और संघर्ष का कारण है

यदि सम्पन्न राष्ट्र और लोग परिग्रह के मोह का त्याग दें तो संसार की सब सामाजिक जटिलताएँ दूर हो जाएँ और कठिन समस्याएँ सुलझ जाएँ। यही कारण है कि श्रमण संस्कृति के महर्षि अनादि काल से विश्व को अपरिग्रहरूप महाव्रत का पालन करने का संदेश देते आए हैं।

तप की प्रधानता।

उपर्युक्त पांच महाव्रत ही नैतिक आचरण के आधार हैं। इनको कायरूप में परिणत करने के लिये तपश्चर्या की आवश्यकता है। तप ही मानव को धर्म की ओर प्रवृत्त कराता है। तप दो प्रकार का माना है —(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। बाह्य में (१) अनशन, (२) अवमोदरिका, (३) भिक्षाचर्या (४) रसपरित्याग, (५) काय क्लेश और (६) प्रतिसंलीनता सम्मिलित हैं। आभ्यन्तर तप में (१) प्रायश्चित्त (२) विनय, (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग। तपश्चर्या से आत्मशुद्धि होती है और अन्तःकरण के क्लेश की निवृत्ति होती है। इसके लिये सहनशीलता की नितान्त आवश्यकता है। भगवान् महावीर स्वामी ने तपश्चर्या के समय अनेक प्रकार के कायक्लेशों को अविचलित भाव से सहन किया। जब वे अनार्य देशों में विहार कर रहे थे तो अज्ञानी मनुष्यों ने उन पर कुत्ते छोड़े किन्तु उनकी कुछ भी परवाह न करते हुए वे अपने ध्यान में अटल रहे।

श्रमण संस्कृति में आत्मशुद्धि को जीवन का लक्ष्य माना है और इसी कारण से तपश्चर्या की प्रधानता है। जैन धर्म ग्रन्थ ऐसे अनेक उदाहरणों से भरे पड़े हैं जिनसे पता चलता है कि साधारण

ऋषियों की तो बात ही क्या बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा भी आत्मशुद्धि के लिये घोर तपस्या करते थे। महाकवि श्रीवीरनन्दीजी लिखते हैं* –

"मुनिवर के आगे विनय से सिर झुका कर चक्रवर्ती अजितसेन ने सङ्कोच में कहा कि मैं आपके आश्रम में ही आने वाला था। पर मेरे पुण्यों के कारण आप यहीं आगए। जब मनुष्य दुर्गति में गिरने लगता है तब सेना आदि वैभव और बान्धव कोई भी आश्रय नहीं दे सकते। यह जानकर मेरा जी चाहता है कि मैं आपकी ही सेवा में रहूं। हे वरदायक, इसलिये प्रसन्न होकर आप मुझे अपनी दीक्षा दीजिये। क्योंकि आपकी थोड़ी सी भी कृपा शुभ करके अशुभ को मिटा देती है। सज्जनों का अनुग्रह क्या नहीं कर सकता! इस प्रकार राजा ने जब अपने हृदय की बात कहदी तब समय राजा के साहस की परीक्षा करने के इरादे से मुनिवर ने उन्हें उनकी इच्छा से परे वाले वचन कहना शुरू किया। राजन्, कठिन शरीर वाले मुनि [illegible] साधु जन जिस दुष्कर तप को आज नहीं सह सकते उसको [illegible] शरीर कुंकुम लेप से लालित सुकुमार लोग कैसे कर सकते हैं! तुम दयालु, धर्म को ही धन समझने वाले और अपने वैभव को [illegible] में लगाने वाले हो। तुम्हारा चरित्र ऐसा नहीं है कि [illegible] उसकी निन्दा करें। तुम गृहस्थ हो, तब भी तुम्हारा आचरण [illegible] के ही समान है। इस लिये राजन्, आप दयालु, [illegible] बने रहकर युग भर इस पृथ्वी का शासन करो। तुम इन [illegible] को पालो और उबारो। दीनों को उबारने से [illegible] तपस्या नहीं है। मुनि के इस प्रकार कहने पर [illegible] राजा ने मोक्ष के मार्ग में दृढ़ होकर फिर इस प्रकार अपने [illegible] आरम्भ

* देखो चन्द्रप्रभ चरित्र हि० अ० पृ० ११३, ११८।

क्रिया—हे देव, मैं परम पूजनीय जो आप हैं उनकी इस आज्ञा के विषय में फिर जो कुछ कहना चाहता हूं, उसका कारण जन्म मरण के दुःखों का नाश ही है। इन जीवों को इष्टानिष्ट के वियोग संयोग से यदि दुःख प्राप्त न होते तो श्री वीतराग प्रभु द्वारा धारण किये इस सत्य और महाकठिन महाव्रत को कौन ग्रहण करता? यदि गृहस्थ रहने पर भी विचित्र दुःख देने वाला जन्म-मरण का चक्र मिट जाता है तो फिर आप जैसे विवेकी महापुरुषों का तप में परिश्रम करना वृथा ही ठहरा। जिन-दीक्षा में जिनका मन लगा हुआ है उन उदार चरित्र राजा के ये वचन सुनकर मुनिवर को यह निश्चय होगया कि इन्होंने सोच विचार कर यही दृढ़ निश्चय कर लिया है। तब उन्होंने राजा की प्रार्थना को स्वीकार किया। परिवार के बन्धन से मुक्त राजा ने मुनि की अनुमति पाकर अपने पुत्र को यह निष्कण्टक राज्य दे दिया।

उसके बाद उन्होंने परिग्रह छोड़ कर संयम का अलङ्कार रूप तप ग्रहण कर लिया। घोर तप करते हुए ममत्वशून्य राजा पुरबाहर पद्मासन से स्थित रहकर हेमन्त की रातें बिताने लगे। धैर्य-वस्त्रधारी राजा वहां पाले और ठण्डी हवा के वेग को सहते थे। भयानक सैंकड़ों उल्कापातों से दुस्सह और घोर घन-घटाओं से अन्धकार फैला देने वाली वर्षाऋतु की रातों में क्षमताशाली वे पेड़ों की जड़ में बैठे हुए मूसलाधार पानी सहते थे। वे गर्मियों में सूर्य के सामने खड़े रहते थे। तपी हुई सुई के समान शरीर में चुभने वाली सूर्य की किरणों के लगने पर भी वे ध्यान से नहीं डिगे। कर्तव्यकाम कितना ही कठिन क्यों न हो उसे करने के लिये सज्जन लोग दृढ़ रहते हैं।"

सामाजिक जीवन ।

वैदिक धर्म के सामाजिक जीवन में चार आश्रमों का विधान है । जैसे —ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।

एते गृहस्थ प्रभवाश्चत्वार पृथगाश्रमः ॥ मनु० ६।८७

अर्थात्-ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, तथा सन्यासी ये चारों आश्रम अलग २ होने पर भी गृहस्थाश्रम से ही आयमान होते हैं ।

ठीक इसी प्रकार का मन्तव्य जैन धर्मग्रन्थों में भी मिलता है। जैन —

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुक ।
इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तर शुद्धित ॥

जिनसेन-आदि पुराण ।

अर्थात्-ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षुक ये जैनियों के चार आश्रम उत्तरोत्तर शुद्धि के लिये हैं ।

यहां यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जिस प्रकार वैदिक धर्म में आश्रम व्यवस्था पर जोर दिया है और कार्यरूप में उसका पालन भी किया गया है इस प्रकार जैन धर्म में नहीं । जैनागमों ने चार तीर्थों के आचार विचार पर ही जोर दिया है। जैन संस्कृति के आगम तथा अन्य धर्म ग्रन्थ तीर्थ विषयक कर्मकाण्ड से ही भरे हुए हैं। श्रमण संस्कृति में कठिन तपस्या करने के लिये चतुर्थाश्रम तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं किन्तु जीव का संस्कार यदि उत्कृष्ट है तो किसी अवस्था में भी वह तपश्चर्या का अधिकारी है । मेरे विचार से जैन पुराणों में जो आश्रम व्यवस्था का विधान है वह बहुत पीछे का है और यह जैन संस्कृति की अपनी चीज नहीं किन्तु का ही जैन संस्कृति पर प्रभाव है ।

गृहस्थ धर्म ।

श्रमणधर्म निवृत्ति और तपप्रधान धर्म है इस कारण यह न समझना चाहिये कि इसमें गृहस्थमार्ग की उपेक्षा की गई है और उसका इसमें आदर नहीं है। वैदिक संस्कृति के समान श्रमण संस्कृति में भी गृहस्थाश्रम को धर्म की आधार शिला माना है। गृहस्थ के बिना धर्म की प्रवृत्ति और प्रगति नहीं हो सकती। केवल सिद्धान्त विधान मात्र से आत्मशुद्धि प्रधान तप की क्रिया नहीं हो सकती और नहीं केवल आगम ज्ञान के बोध से आचार विचार का पालन ही हो सकता है किन्तु इस प्रकार की धार्मिक क्रियाओं के लिये बाह्य साधनों की आवश्यकता रहती है जिनका गृहस्थ पूरा करता है। यही कारण है कि यत्र तत्र जैन धर्मग्रन्थों में 'गृहस्था धर्म हेतवः' और 'श्रावका मूलकारणम्' जैसे वाक्य मिलते हैं। इसी सत्य की पुष्टि वैदिक महर्षि भी करते हैं —

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृति विधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान् बिभर्ति हि ॥
मनु० ६।८९

अर्थात्-समस्त आश्रमों में वेद और स्मृति की बताई हुई विधि के अनुसार चलने वाला गृहस्थ श्रेष्ठ माना जाता है। क्योंकि गृहस्थ ही इन तीनों आश्रमों की रक्षा करता है।

जैन धर्मग्रन्थों में गृहस्थ के लिये दो तरह के धर्मों का विधान मिलता है। वे हैं लौकिक और पारलौकिक। जैसे —

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः ।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः ॥

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधि ।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न यत्र न व्रत दूषणम् ॥
(यशस्तिलक)

अर्थात्—गृहस्थों के लिये लौकिक और पारलौकिक दो प्रकार के धर्मों का विधान है। लौकिक धर्म लोकाश्रित अर्थात्-लौकिकजनों का देशकालानुसारिणी प्रवृत्ति के अधीन और पारलौकिक आगमाश्रित अथवा आप्तप्रणीत शास्त्रोंके अधीन बतलाया है।* सांसारिक व्यवहारोंके लिये आगम का आश्रय लेना भी बहुत आवश्यक नहीं समझा गया और साथ २ यह भी प्रतिपादन किया है कि जैनियों के लिये वे सम्पूर्ण लौकिक विधियां प्रमाण हैं जिनसे उनकी धार्मिक श्रद्धा में कोई बाधा न पड़ती हो और न व्रतों में ही कोई दूषण लगता हो।

इस प्रकार श्रमण-संस्कृति में गृहस्थाश्रम का स्थान बहुत ऊँचा और आदरणीय है।

विवाह।

विवाह करना गृहस्थ का परम कर्तव्य है। आदिपुराण में भगवज्जिन सेनाचार्य ने लिखा है कि जब युग के प्रारम्भ में भगवान् ऋषभदेव ने विवाह के लिये कुछ अनिच्छा प्रगट की तो उनके पिता नाभि राजा ने उनको समझाते हुए ये वचन कहे —

त्वामादिपुरुष दृष्ट्वा लोकोऽप्येव प्रवर्तताम्।
महतां मार्गवर्तीनी प्रजा सुप्रजसो ह्यमू ॥ ६१ ॥
ततः कलत्रमत्रेष्टं परिणेतु मनः कुरु।
प्रजासन्ततिरेवं हि नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥ ६२ ॥
प्रजासंतत्यविच्छेदे तनुते धर्मसंततिः।†

* विवाह समुद्देश्य पृष्ठ २०।

† ... [illegible]

अर्थात्—आदि पुरुष आपको देखकर लोग भी आपका ही अनुकरण करेंगे। प्रजाजन बड़ों के दिखाए मार्ग पर ही चला करते हैं। अतएव आप पत्नी के परिग्रहन की भावना को स्वीकार करें। ऐसा करने से सन्तानोत्पत्ति की शृङ्खला निरंतर चलती रहेगी और उसके चलने से धर्म-संतति की वृद्धि होगी।

वर्ण व्यवस्था के प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि मूलतः श्रमण संस्कृति में वर्ण व्यवस्था कर्म से ही रही है किन्तु वैदिक संस्कृति के साथ निरन्तर चिरकालीन सम्पर्क से यह उसके प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। नीचे दिया उदाहरण इस सत्य की पुष्टि करता है। वैदिक संस्कृति के अनुसार —

> शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते।
> ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ॥
>
> मनुस्मृति ३।१३

अर्थात्—शूद्रा ही शूद्र की स्त्री हो सकती है दूसरी नहीं। वैश्य को वैश्य वर्ण वाली और और शूद्रा क्षत्रिय को क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा ब्राह्मणों को चारों वर्णों की कन्याओं से विवाह करने का अधिकार है।

ठीक ऐसा ही मन्तव्य जैन पुराणों में भी मिलता है। जैसे —

> शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
> वहेत्स्वां ते च राजन्य स्वां द्विजन्मा क्वचिच्चताः ॥†

ठीक ऊपर जैसा ही अर्थ इसका भी है। कर्ममूलक श्रमण संस्कृति पर यह जन्ममूलक संस्कृति का ही असर है और यह असर बहु

† आदि पुराण।

प्राचीन नहीं किन्तु बहुत पीछे का है। श्रमण संस्कृति वास्तव में कर्म मूलक होने के कारण विवाह के लिये जातिपांति का कोई प्रतिबंध उपस्थित नहीं करती। विवाह में जातिबंधन की प्रथा बहुत पीछे की है। शास्त्रों में असवर्ण विवाहों के अनेक उदाहरण मिलते हैं। बड़े बड़े प्रतिष्ठित महापुरुष भीलों और म्लेच्छों आदि तक की कन्याओं से निस्संकोच विवाह कर लेते थे। एक ही गोत्र और एक ही परिवार में भी विवाह हो सकता था। श्री नेमिनाथ के चचा वसुदेव जी ने अपने चचाजाद भाई उग्रसेन की लड़की देवकी से विवाह कर लिया था।* मामा और फूफी की लड़की से विवाह तो आम प्रचलित था। दाक्षिणात्य ब्राह्मणों में तो इस प्रकार के विवाह आज भी प्रचलित हैं। परन्तु इस प्रकार के विवाह उस समय भी सार्वदेशिक नहीं थे। इसी कारण सोमदेव सूरि ने लिखा है — 'देशापेक्षो मातुलसम्बन्धः।'

विवाहों में सबसे उत्तम स्वयंवर विवाह को माना जाता था। आदि पुराण में विवाह विधान के प्रकरण में स्वयंवर विवाह को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है।

जैसे —सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥

अर्थात्—विवाह के जितने भेद हैं उनमें स्वयंवर ही सबसे श्रेष्ठ है और श्रुति-स्मृतियों में इसकी महिमा है। अनादिकाल से विवाह का यही उत्तम मार्ग चला आता है।

स्वयंवर में गई हुई कन्या अपनी रुचि के अनुसार वर को चुनती है —कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरम्।

* विवाह समुद्देश्य पृ० १८।

कुलीनमकुलीनं वा क्रमोनास्ति स्वयंवरे ॥*

अर्थात्—स्वयंवर में गई हुई कन्या कुलीन और अकुलीन का विचार न करके अपनी इच्छा के अनुसार वर को चुनता है।

जैनकाल में बहु विवाह की प्रथा अवश्य प्रचलित थी किन्तु परस्त्री की ओर दृष्टि डालना बहुत बुरा समझा जाता था। लोग अपनी २ प्रियतमाओं से ही सन्तुष्ट रहते थे।

श्रमण संस्कृति के प्रवर्तक।

श्रमण संस्कृति के आदि प्रवर्तक कौन थे, वे कब हुए और किन किन परिस्थितियों में उन्होंने इसकी नींव रक्खी इसका इतिहास से कुछ पता नहीं चलता। हां उपलब्ध 'आगमग्रन्थों' तथा अन्य साहित्य से यह स्पष्ट है कि नाभिपुत्र आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव स्वामी श्रमण संस्कृति के महान् समर्थक थे। उन्होंने इसका सर्वत्र प्रचार किया। उन्होंने ही लोगों के लिये रहन-सहन के नियमों को बनाया और उन्हें पालन करने का ढंग सिखाया। जङ्गली जानवरों से आत्म-रक्षा करने के लिये उन्होंने लोगों को शस्त्र बनाना सिखाया और स्वयं तलवार हाथ में लेकर उन्होंने लोगों को उसका प्रयोग करना सिखाया। कर्ममूलक वर्ण व्यवस्था भी उन्होंने ही रची। आदिराज ऋषभदेव ने ही कर्म को छः भागों में बांटा—(१) युद्ध, (२) कृषि, (३) साहित्य, (४) शिल्प, (५) वाणिज्य और (६) व्यवसाय। न्यायपूर्वक प्रजापालन के महत्त्व को भी उन्होंने ही तत्कालीन राजाओं को समझाया। उन्होंने तत्कालीन लोगों को लिखना पढ़ना सिखाया और कृषि के योग्य लोगों को कृषि करने का ढंग बताया।

---

* जिनदास हरिवंश पुराण।

अनेक प्रकार की शिल्पकलाओं का आविष्कार भी उन्होंने किया। सामाजिक सुव्यवस्था के लिये उन्होंने अनेक नियम बनाये और अनुशासन तथा मर्यादा में रहकर उनका पालन करना लोगों को सिखाया। जब उन्होंने अनुभव किया कि उनका बड़ा पुत्र राज्यभार सम्भालने में और प्रजापालने में पूर्णरूप से समर्थ होगया है तो वे राज्य भार उस को सौंप कर और स्वयं सब कुछ त्याग करके चले गये और तपश्चर्या करने लगे। इस प्रकार अनादि परंपरा से चली आई श्रमण संस्कृति के निर्माण में आदितीर्थंकर श्री ऋषभ देव स्वामी का कितना हाथ है यह पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

श्रमण संस्कृति की महानता।

इस प्रकार श्रमण संस्कृति का बाह्य रूप लोगों का मन हरे आकर्षण करने वाला न लगे किन्तु उस का आंतरिक स्वरूप [illegible] महत्त्व का है। आंतरिक स्वरूप के महत्त्व का कारण यही है कि इसकी आधारशिला आध्यात्मिकता है। संसार की अन्य संस्कृतियां बाह्य-डम्बर, टीप टाप भौतिकवाद राजनैतिक चातुर्य और [illegible] विश्वास करती हैं किन्तु श्रमण संस्कृति बाह्यरूप में [illegible] और अहिंसा में विश्वास करती है। श्रमण संस्कृति [illegible] आध्यात्मिकता, तपस्या, त्याग, सत्य और विश्व प्रेम पर [illegible] है। [illegible] श्री राजीविजोचन जी अग्निहोत्री ने जो भारतीय [illegible] लिखित पंक्तियां लिखी हैं वे श्रमण संस्कृति [illegible] होती हैं – *

" संसार के सभी प्राणियों को [illegible] प्रेम करुणा, उपकार, क्षमा, अहिंसा, [illegible]

* हि स अ पृ० ४१० ।

रखना, उन के लिये अपने व्यक्तिगत जीवन के स्वार्थ, सुखोपभोग की लालसा यश और प्रतिष्ठा की चाह का परित्याग करना, दूसरे के विनाश में अपना निमाण देखने की लिप्सा समाप्त करना, घृणा, विद्वेष, असहिष्णुता और मतान्धता को अपने जीवन में न आने देना तथा सामाजिक जीवन में भी उसे न फैलने देना इन्द्रियों को संयम में कसकर अन्तःकरण की पवित्रता की ओर बढ़ना सत्वशुद्धि के लिये ही उपयुक्त जीवन प्रणाली का निर्माण करना और द्वन्द्वों से ऊपर उठते हुए निष्काम भाव से कम करने की क्षमता प्राप्त करना यही भारतीय संस्कृति है। मनुष्य की पशुता मिटाकर उसे मानव बनाना और फिर ईश्वरत्व की ओर उसे अग्रसर करना भारतीय संस्कृति का कार्य है।"

इस प्रकार आध्यात्मिक, राजनैतिक और सामाजिक आदि सभी जीवन के क्षेत्रों में श्रमण संस्कृति विश्व की अन्य संस्कृतियों में बहुत ऊँचा स्थान रखती है। पांच महाव्रतों के संक्षिप्त विश्लेषण से ही पाठक भली भाँति समझ गए होंगे कि श्रमण संस्कृति में मानव जीवन का अधोगति की ओर ले जाने वाले हिंसा, असत्य, अनधिकार चेष्टा असंयम और तृष्णा का कितना विरोध किया गया है। संसार में व्यापक रूप से फैली हुई विषमता, स्पर्धा, कलह और अशान्ति को मिटाने के लिये श्रमण संस्कृति ने विश्व के सामने अहिंसा सत्य समानत्व, संयम और त्याग के आदर्शों को रक्खा है। इन आदर्शों पर चलने से ही विश्व में शांति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है और मानव जाति आत्म कल्याण की ओर बढ़ सकता है।



रखना, उन के लिये अपने व्यक्तिगत जीवन के स्वार्थ, सुखोपभोग की लालसा, यश और प्रतिष्ठा की चाह का परित्याग करना, दूसरे के विनाश में अपना निमाण देखने की लिप्सा समाप्त करना, घृणा, विद्वेष, असहिष्णुता और मतान्धता को अपने जीवन में न आने देना तथा सामाजिक जीवन में भी उसे न फैलने देना इन्द्रियों को संयम में कसकर अन्तःकरण की पवित्रता की ओर रखना सत्त्वशुद्धि के लिये ही उपयुक्त जीवन प्रणाली का निर्माण करना और द्वन्दों से ऊपर उठते हुए निष्काम भाव से कर्म करने की क्षमता प्राप्त करना यही भारतीय संस्कृति है। मनुष्य की पशुता मिटाकर उसे मानव बनाना और फिर ईश्वरत्व की ओर उसे पुरस्सर करना भारतीय संस्कृति का कार्य है।"

इस प्रकार आध्यात्मिक, राजनैतिक और सामाजिक आदि सभी जीवन क्षेत्रों से श्रमणसंस्कृति विश्व की अन्य संस्कृतियों में बहुत ऊंचा स्थान रखती है। पांच महाव्रतों के संक्षिप्त विवरण से ही पाठक भली भाँति समझ गए होंगे कि श्रमण संस्कृति में मानव जीवन को अधोगति की ओर लेजाने वाले हिंसा, असत्य, अनधिकार चेष्टा असंयम और तृष्णा का कितना विरोध किया गया है। संसार में व्यापक रूप से फैली हुई विषमता, स्पर्धा, कलह और अशान्ति को मिटाने के लिये श्रमण संस्कृति ने विश्व के सामने अहिंसा, सत्य, समानता, संयम और त्याग के आदर्शों को रखा है। इन आदर्शों पर चलने से ही विश्व में शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है और मानव जाति आत्म कल्याण की ओर बढ़ सकता है।

